Dynamic RELIGIOUS SERIES

पाराशरस्मृति

Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

पाराशरस्मृति

Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

स्मृति-ग्रन्थों को युग-विशेष में समाज में प्रचलित प्रथाओं, रीतियों, नीतियों, रूढ़ियों, आचार-विचारों तथा धार्मिक मान्यताओं का संकलन कहा जा सकता है।

बारह अध्यायों और पांच सौ बानवे श्लोकों में निबद्ध पाराशरस्मृति में प्रमुखतः दो विषयों पर विचार किया गया है-आचार तथा प्रायश्चित्त। सत्युग, त्रेता और द्वापर के धर्मो की चर्चा अन्यान्य स्मृतियों में मिलेगी, परन्तु इस स्मृति में तो कलियुग के धर्म-आचार तथा रीति-नीति की चर्चा की गयी है। अतः आज के युग-धर्म को समझने एवं आचरण के लिए पाराशरस्मृति की महती उपयोगिता है।

धर्म की स्थापना और ब्राह्मणों को पाप से बचाने के लिए ही पाराशरस्मृति की रचना की गयी है। इस शास्त्र की जानकारी जहां पुण्यकारक है, वहां इसमें वर्णित नियमों का पालन करने से स्वर्ग तथा अपवर्ग की प्राप्ति भी होती है।

यह सचमुच एक अनूठा और प्रशंसनीय प्रयास है। ग्रन्थ की प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए मूलपाठ भी दिया गया है। आशा है, धर्मप्रेमी पाठक इसे पसन्द करेंगे।

प्राक्कथन

स्मृति-ग्रन्थों को युग-विशेष में समाज में प्रचलित प्रथाओं, रीतियों, नीतियों, रूढ़ियों, आचार-विचारों तथा धार्मिक मान्यताओं का संकलन कहा जाये, तो अनुचित न होगा। वस्तुतः स्मृति-ग्रन्थ युग-विशेष में समाज में समादृत आचार संहिता के निदर्शक होने के कारण विशेष महत्त्व रखते हैं। सम्बद्ध युग के सर्वांगीण अध्ययन के लिए तो स्मृति-ग्रन्थ आधार-ग्रन्थ ही हैं।

बृहस्पति ने छह अंगों तथा उपांगों सहित चारों वेदों का सम्यक् अध्ययन कर लेने पर भी धर्म सम्बन्धी तत्त्व को समझने के लिए स्मृतियों की जानकारी को आवश्यक माना है। उनके अनुसार, जिस प्रकार चन्द्र के बिना रात्रि की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार स्मृतियों की जानकारी के बिना अध्यात्म ज्ञान को भी पूर्ण नहीं माना जा सकता—

अधीत्य चतुरो वेदान् सांगोपांगपदक्रमान्।
स्मृतिहीनाः न शोभन्ते चन्द्रहीनेव शर्वरी॥

महाभारत में भी धर्मतत्त्व की जानकारी के लिए वेदों के साथ स्मृतियों की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा गया है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।
द्वितीयं धर्मशास्त्राणि तृतीयं लोकसंग्रहः॥

स्मृतियों की संख्या लगभग 36 है, जिनमें काल-क्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान पर 'मनुस्मृति' है।

पाराशरस्मृति भी मनुस्मृति की परम्परा का ही अनुवर्तक ग्रन्थ है। महर्षि पराशर ने अपने ग्रन्थ में यत्र-तत्र मनु महाराज के प्रति अत्यन्त सम्मान एवं गौरव प्रकट किया है तथा उनकी मान्यताओं को बहुमान देते हुए सर्वथा प्रामाणिक स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, अपितु महर्षि पराशर ने तो मनु महाराज को प्रत्येक युग में स्मृति का आविर्भाव करने वाला माना है। उनके अनुसार जिस प्रकार ब्रह्माजी प्रत्येक कल्प में वेदों का स्मरण करके उन्हें प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार मनु महाराज कल्प-कल्पान्तर में स्मृति का स्मरण करके आचार संहिता को प्रकाशित करते हैं—

न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदस्मर्त्ता चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे॥

(1/21)

बारह अध्यायों और पांच सौ बानवे श्लोकों में निबद्ध इस स्मृति-ग्रन्थ में प्रमुखतः दो विषयों पर विचार किया गया है—आचार तथा प्रायश्चित्त।

कलियुग में इस स्मृति-ग्रन्थ की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रत्येक युग के अपने-अपने धर्म और आचरण, अर्थात् नियम-विनियम होते हैं। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के धर्मों की चर्चा अन्यान्य स्मृतियों में मिलेगी, परन्तु इस स्मृति में तो कलियुग के धर्म-आचार तथा रीति-नीति की चर्चा की गयी है। अतः आज के युग-धर्म को समझने एवं आचरण के लिए इस स्मृति की महती उपयोगिता है। इस सम्बन्ध में आदित्य पुराण का प्रस्तुत कथन दर्शनीय है—

''कलौ पाराशराः स्मृताः।''

अर्थात् कलियुग के धर्म, आचार, नियम आदि के सम्बन्ध में महर्षि पराशर के वचन ही प्रमाण-रूप हैं।

पाराशरस्मृति में भी इस सम्बन्ध में कहा गया है कि धर्म की स्थापना और ब्राह्मणों को पाप से बचाने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस शास्त्र की जानकारी जहां पुण्यकारक है, वहां इसमें वर्णित नियमों का पालन करने से स्वर्ग तथा अपवर्ग की प्राप्ति भी होती है—

पराशरमतं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम्।
चिन्तितं ब्राह्मणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥

इसी सन्दर्भ में ग्रन्थ के अन्त में स्वर्ग-प्राप्ति के इच्छुक ब्राह्मणों को इसके नियमित अध्ययन का परामर्श दिया गया है—

.... धर्मशास्त्रमिदं तथा।
अध्येतव्यं प्रयत्नेन नियतं स्वर्गकामिना॥

महर्षि पराशर सामान्यतः रूढ़ि एवं परम्परा का पालन करते दिखाई देते हैं, परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने युग-धर्म के परिप्रेक्ष्य में प्रचलन से हटकर स्वतन्त्र एवं स्वस्थ विचार भी प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ, उनके निम्नोक्त कथन दर्शनीय हैं—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत्।
स्वयं समुद्धरेत्पश्चात्स्वस्थो धर्मं समाचरेत्॥

अर्थात् संकट की स्थिति में व्यक्ति को शौच, आचार के पालन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसे सर्वप्रथम अपने शरीर की रक्षा पर ध्यान देना चाहिए। स्वस्थ रहने पर ही तो धर्म का पालन हो सकेगा।

इसी प्रकार—

देशभंगे प्रवासे च व्याधिषु व्यसनेष्वपि।
रक्षेदेव स्वदेहादौ पश्चाद्धर्मं समाचरेत्॥

देश पर आये संकट की स्थिति में, परदेश में, रोगग्रस्त होने पर तथा अन्यान्य किसी भी असामान्य स्थिति में धर्म-रक्षा तथा धर्म-पालन की चिन्ता की अपेक्षा शरीर-रक्षा को प्राथमिकता देनी चाहिए। शरीर स्वस्थ-सुरक्षित होगा, तो धर्म-पालन भी हो पायेगा।

महर्षि ने स्त्रियों के सम्बन्ध में परम्परागत संकीर्णता से हटकर अतिरिक्त उदारता का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

पांच स्थितियों—पति का खो जाना, मर जाना, संन्यास धारण कर लेना, नपुंसक सिद्ध होना तथा बहिष्कृत होना—को स्त्रियों के लिए आपत्काल बताने को और इन स्थितियों में स्त्री को दूसरा विवाह करने का अधिकार देने को एक क्रान्तिकारी पग ही मानना होगा। रूढ़िवाद के युग में इस प्रकार की कल्पना को ही दुस्साहस माना जाता था। इस प्रकार के चिन्तन को चुनौती देना, परम्परा से विद्रोह करना क्रान्ति ही तो कहलाती है।

इसी प्रकार अशिक्षित ब्राह्मण को ब्राह्मण न मानना, अर्थात् जन्म के स्थान पर कर्म और आचरण को वर्ण-व्यवस्था का आधार मानना भी परम्परा से हटकर कुछ कहने का साहस है—

यथा षण्डोऽफलः स्त्रीषु तथा गौरुषराऽफला।
यथा चाऽरोऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

अर्थात् स्त्रियों के लिए नपुंसक पुरुष के समान व उपज के लिए ऊसर भूमि के समान, दान के लिए अशिक्षित ब्राह्मण भी अनुपयोगी एवं निष्फल है।

महर्षि पराशर ने काठ के हाथी और चमड़े के मृग के समान ही अशिक्षित ब्राह्मण को नाममात्र का ब्राह्मण माना है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणस्त्वनधीयानास्त्रयस्ते नामधारकाः॥

भारतीय धर्म और दर्शन के अमूल्य एवं दुर्लभ ग्रन्थों को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाने वाले प्रकाशक महोदय ने मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, नारदस्मृति के प्रकाशन के उपरान्त पाराशरस्मृति को भी प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। संस्कृत से अपरिचित हिन्दी पाठकों को गौरव-ग्रन्थों से परिचित कराने का उनका

यह प्रयास सचमुच अनूठा और प्रशंसनीय है। ग्रन्थ की प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए प्रकाशक जहां मूलपाठ की प्रस्तुति आवश्यक समझते हैं, वहां अनुवाद को यथासम्भव सरल, सुबोध और रोचक बनाने की ओर भी विशेष सचेष्ट रहते हैं।

आशा है कि धर्मप्रेमी पाठक उनके प्रयास के प्रति सम्मान और स्नेह का भाव दिखाते हुए उन्हें प्रोत्साहित करेंगे।

हमने ग्रन्थ को सर्वजन सुलभ एवं सुपाठ्य बनाने का पूरा प्रयास किया है, फिर भी यदि पाठक कहीं क्लिष्टता अनुभव करें, तो इसे शास्त्र की दुर्गमता ही समझना चाहिए, अन्यथा विषय को विशद बनाने में हमने कोई कसर नहीं रखी है।

—रामचन्द्र वर्मा

पहला अध्याय

चातुर्वर्ण्याचार

अथातो हिमशैलाग्रे देवदारुवनालये।
व्यासमेकाग्रमासीनमपृच्छन्नृषयः पुरा॥ 1॥

प्राचीनकाल की घटना है कि एक समय महर्षि पराशर के पुत्र व्यासजी हिमालय पर्वत के शिखर पर उगे देवदारु वृक्षों से घिरे अपने आवास (कुटिया-आश्रम) में एकाग्रचित्त-चिन्तनलीन बैठे थे कि वहां ऋषियों का आगमन हुआ। ऋषियों ने व्यासजी को प्रणाम किया। व्यासजी ने भी शालीनता का निर्वाह करते हुए अभिवादन का उत्तर प्रत्यभिवादन में दिया। दोनों ओर से कुशल-मंगल पूछने की औपचारिकता के उपरान्त ऋषियों ने व्यासजी की अनुमति पाकर उनके समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की।

टिप्पणी—ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए भारतीय परम्परा में प्रथा के रूप में प्रचलित प्रारम्भ में मंगलाचरण का अभाव खटकता है।

प्राचीनकाल से ही आश्रम जन-कोलाहल से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में अवस्थित रहे हैं। वस्तुतः साधना के लिए एकान्त तथा स्वच्छ एवं शुद्ध परिवेश की अत्यन्त आवश्यकता होती है। मन की शुद्धि एवं स्थिरता के लिए सात्त्विक वातावरण अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। देवस्थान में व्यक्ति के कलुषित भाव दब जाते हैं, जबकि द्यूतशाला में वे तीव्र भाव से प्रस्फुटित होते हैं। यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी सन्दर्भ में गुरुकुलों, आश्रमों तथा तपोवनों की स्थिति के सम्बन्ध में निम्नोक्त निर्देश की सार्थकता है—

उपह्वरे गिरीणां संगमे नदीनां धियो विप्राःअजायन्त—

अर्थात् पर्वतों के प्रान्तर में तथा नदियों के संगम-स्थल पर निवास करने से न केवल बुद्धि का विकास तथा उत्कर्ष होता है, अपितु उसमें सात्त्विकता का समावेश भी होता है।

भारतीय अध्यात्म-परम्परा में द्रष्टा—परोक्ष परमतत्त्व को प्रत्यक्षवत् देखने

वाले, अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले—को ऋषि कहा जाता है। हमारे ऋषियों की यह भी एक विशेषता रही है कि वे आत्मसाक्षात्कार करने के उपरान्त भी निरन्तर जिज्ञासु रहे हैं, इसीलिए वे सिद्ध होने पर भी 'साधक' कहलाते रहे हैं। उन्होंने ज्ञान के अन्त को कभी नहीं स्वीकार किया। वे तो 'चरैवेति' 'चरैवेति' को आदर्श मानते रहे हैं। यही कारण है कि हम भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में नित्य नयी उपलब्धियां प्राप्त करते रहे हैं। न्यूटन के प्रस्तुत कथन—"मैंने ज्ञान के सागर में डुबकी तो लगायी है, परन्तु अभी मेरे हाथ में कंकर ही आये हैं।"—को भारतीय ऋषियों का आदर्श मानने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिए। यही मूल वास्तविकता है।

मानुषाणां हितं धर्मं वर्त्तमाने कलौ युगे।
शौचाचारं यथावच्च वद सत्यवतीसुत!॥ 2॥

ऋषियों ने जिज्ञासा-भाव से विनीत स्वर में पूछा—सत्यवतीनन्दन! वर्तमान कलियुग में आप हम लोगों के लिए हितकारी एवं आचरणीय धर्मों तथा शौचाचारों के विधि-विधान की पूरी-पूरी जानकारी देने की कृपा करें।

टिप्पणी—अपने ज्ञान में वृद्धि करने के इच्छुक व्यक्ति का जिज्ञासु होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार—"**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्**" —श्रद्धा-संवलित व्यक्ति ही ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी होता है। श्रद्धा का अर्थ है—दूसरे को अपने से अधिक गौरव देना-गुरु मानना, अर्थात् अधिक ज्ञानवान् स्वीकार करना। जब व्यक्ति किसी को अपने से ऊंचा मानता है, तो प्रकारान्तर से उसके प्रति विनम्रता तथा अधीनता का भाव दिखाता है। इसे ही 'पात्रता' अथवा 'अधिकारी होना' माना जाता है।

ऋषियों की जिज्ञासा के पीछे लोककल्याण की भावना है। वे स्पष्ट संकेत देते हैं कि उनके समक्ष प्रकाशित ज्ञान उन तक सीमित नहीं रहेगा, अपितु वे जन-जन तक उसका प्रचार-प्रसार करेंगे। इस कथन के द्वारा ऋषियों ने एक तो अपने उद्देश्य की ओर संकेत किया है और दूसरे व्यासजी के समक्ष उनके वक्तव्य की सार्थकता के सन्देश द्वारा उन्हें वक्तव्य देने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित किया है।

कलियुग के साथ जुड़े 'वर्तमान' शब्द से ध्वनित होता है कि द्वापर युग का समापन और कलियुग का प्रवर्तन अभी-अभी हुआ है। युग के परिवर्तन के साथ नियम-विनियमों, आचार-विचारों, रीति-नीतियों तथा प्रथाओं आदि में भी यत्किञ्चित् परिवर्तन का आना स्वाभाविक ही है। इसी सन्दर्भ में व्यासजी के मुख से नये विधान की जानकारी के सम्बन्ध में ऋषियों में उत्सुकता भी स्वाभाविक ही है।

व्यासजी के लिए 'सत्यवतीसुत' शब्द का प्रयोग किया गया है। सत्यवती धीवर की पुत्री थी। उसका वास्तविक नाम 'मत्स्यगन्धा' था और वह अत्यधिक सुन्दरी थी। उसके आकर्षण और सम्मोहन ने महाराज शान्तनु को इस प्रकार अस्थिर, असन्तुलित तथा विवश कर दिया कि उन्होंने उसे पाने के लिए अपने औरस पुत्र देवदत्त (आगे चलकर भीष्म नाम से विख्यात) को उसके न्यायसंगत उत्तराधिकार से वञ्चित तक करना स्वीकार लिया। अनुपम रूप, सौन्दर्य और यौवन की उस देवी के सम्मोहन का संवरण महर्षि पराशर भी नहीं कर पाये थे। पिता की अनुपस्थिति में ऋषि के अनुरोध पर उन्हें नदी पार कराती एवं नाव खेती मत्स्यगन्धा महर्षि की वासना का शिकार हो गयी। महर्षि पराशर से मत्स्यगन्धा के गर्भवती हो जाने पर उसे एक द्वीप में रखा गया और उसके गर्भ से उत्पन्न बालक के द्वीप में उत्पन्न होने के तथा ईषत्—श्याम वर्ण (पिता के अनुरूप) का होने के कारण उसे 'कृष्ण द्वैपायन' नाम दिया गया। आगे चलकर वेदों का विभाजन करने के कारण इसी बालक का नाम 'वेदव्यास' पड़ गया, जिसका संक्षिप्त रूप 'व्यास' है। इधर वही मत्स्यगन्धा हस्तिनापुर-नरेश महाराज शान्तनु की महारानी बनने पर 'सत्यवती' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी ने विचित्रवीर्य और विचित्रांगद नामक दो पुत्रों को जन्म दिया। इन दोनों के द्वारा सन्तान उत्पन्न किये बिना ही मर जाने पर सत्यवती ने अपने पुत्र कृष्ण द्वैपायन (व्यास) को बुलाकर अपनी दोनों—बहुओं—अम्बिका, अम्बालिका—के गर्भ से नियोग पद्धति द्वारा पाण्डु और धृतराष्ट्र को उत्पन्न कराकर वंश-परम्परा को आगे बढ़ाया था।

तच्छ्रुत्वा ऋषिवाक्यं तु सशिष्योऽग्न्यर्कसन्निभः।
प्रत्युवाच महातेजाः श्रुतिस्मृतिविशारदः ॥ 3 ॥

समागत ऋषियों के अनुरोधपूर्ण वचनों को सुनकर अपने शिष्यों के मध्य में बैठे अग्नि एवं सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी तथा वेद-शास्त्रों के तत्त्वज्ञ एवं पारदर्शी महात्मा व्यासजी ने उत्तर देते हुए कहा।

टिप्पणी—प्राचीनकाल में जब ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए लिखने की व्यवस्था सुलभ नहीं थी, तो वेदशास्त्रों को श्रवण-स्मरण के माध्यम से ही सुरक्षित रखा जाता था। दोनों—वेदों और शास्त्रों—में केवल अन्तर करने के लिए ही प्रथम को श्रुति और द्वितीय को स्मृति नाम दे दिया गया था, अन्यथा दोनों को ही समान रूप से सुनकर (मुख-परम्परा एवं श्रवण-परम्परा) स्मरण रखा जाता था। इस श्रमसाध्य प्रयास द्वारा ही एक पीढ़ी ने इस दुर्लभ एवं अमूल्य ज्ञान को दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाया है।

न चाहं सर्वतत्त्वज्ञः कथं धर्मं वदाम्यहम्।
अस्मत्पितैव प्रष्टव्य इति व्यासः सुतोऽवदत्॥ 4॥

पराशरजी के पुत्र व्यासजी बोले—पुण्यकर्मा महर्षियो! मैं सभी धर्मों के गूढ़ तत्त्व को उनके मूल रूप में नहीं जानता, अतः मैं आप लोगों के अनुरोध का पालन कैसे कर सकता हूं? मेरा आप लोगों से निवेदन है कि आप इस सम्बन्ध में मेरे पूज्य पिताजी से सम्पर्क करें, वे आपकी सभी जिज्ञासाओं को शान्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।

टिप्पणी—व्यासजी को श्रुति-स्मृति विशारद कहा गया है, पुनरपि उन्होंने किसी प्रकार की गर्वोक्ति नहीं की, अपितु सीमा को स्वीकार करते हुए '**नाहं सर्वतत्त्वज्ञः**' कहकर अपनी विनम्रता और उदारता का ही परिचय दिया है।

ततस्ते ऋषयः सर्वे धर्मतत्त्वार्थकाङ्क्षिणः।
ऋषिं व्यासं पुरस्कृत्य गता बदरिकाश्रमम्॥ 5॥

व्यासजी के शालीन एवं विनम्र सुझाव को सुनकर सभी धर्मों के गूढ़ातिगूढ़ तत्त्वों को जानने के इच्छुक ऋषि महर्षि व्यास को आगे करके महात्मा पराशरजी के आश्रम की ओर बदरिकावन को चल दिये।

टिप्पणी—प्राचीनकाल में अनेक सिद्ध महात्माओं के आश्रम बदरिकारण्य, नैमिषारण्य तथा केदारखण्ड आदि में अवस्थित थे। उन दिनों आजकल सुविधा से उपलब्ध होने वाले यातायात के साधनों का अभाव था। अतः ये स्थान लोगों की पहुंच से दूर थे और इस प्रकार निर्जन एकान्त और शान्त स्थल थे, अर्थात् साधना के लिए सर्वथा उपयुक्त थे। यहीं ब्रह्मचारियों को तपःसाधना तथा ज्ञान-विज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाता था।

नानापुष्पलताऽऽकीर्णं फलपुष्पैरलङ्कृतम्।
नदीप्रस्त्रवणोपेतं पुण्यतीर्थोपशोभितम्॥ 6॥
मृगपक्षिनिनादाढ्यं देवताऽऽयतनावृतम्।
यक्ष-गन्धर्व-सिद्धैश्च नृत्यगीतैरलङ्कृतम्॥ 7॥

महर्षि पराशर के आश्रम का परिवेश इस प्रकार था—

आश्रम के चारों ओर अनेक प्रकार की लताएं बिखरी पड़ी थीं, इन लताओं पर लगे अनेक प्रकार के पुष्प और फल प्रकृति की रमणीयता को द्विगुणित कर रहे थे। आश्रम के चारों ओर नदियां और जल-प्रपात आश्रम को स्निग्ध और मोहक

बना रहे थे। इसके अतिरिक्त आश्रम के भीतर अनेक तीर्थों-पवित्र स्थलों की स्थापना से एक अलौकिक सात्त्विकता व्याप्त थी। संक्षेप में वह रूप, रस और गन्ध की त्रिवेणी था।

मृगों (पशुओं) और पक्षियों का शब्द आश्रम के चारों ओर व्याप्त था, अर्थात् वे निश्चिन्त होकर घूमते-फिरते दृष्टिगोचर होते थे। आश्रम में देवमन्दिरों का जमघट था, अर्थात् आश्रम में विभिन्न देवों—विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश तथा शक्ति आदि—के मन्दिर थे, जहां यक्ष, गन्धर्व और सिद्धगण अपने नृत्य, गीत तथा वाद्य आदि से आश्रम को देवभूमि होने का गौरव प्रदान कर रहे थे। इस प्रकार महर्षि पराशर का आश्रम नैसर्गिक सुषमा और आध्यात्मिक सात्त्विकता का मणिकाञ्चन संयोग था।

टिप्पणी—मृग शब्द का अर्थ संकोच हो गया है। पहले यह शब्द शिकार आदि के लिए ढूंढ़े जाने वाले व्याघ्र, सिंह आदि सभी प्रकार के हिंसक-अहिंसक जन्तुओं का बोधक था, इसीलिए आखेट का पर्याय मृगया शब्द प्रचलित था। कालान्तर में कुछ विलासी राजा शौक़िया हरिणों का शिकार करने लगे और फिर धीरे-धीरे मृग शब्द हरिण के अर्थ तक सीमित हो गया और आज यही अर्थ प्रचलित है।

तपोवनों तथा आश्रमों में जीवहिंसा निषिद्ध थी। इसका पालन राजा तक करते थे। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के साक्ष्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है। दुष्यन्त जब महर्षि कण्व के आश्रम के एक मृग को अपने बाण का लक्ष्य बनाने जा रहा था, तो ब्रह्मचारी के इस कथन—**आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यः**—को सुनकर दुष्यन्त अपने बाण को लौटा लेता है। इस व्यवस्था के कारण आश्रमों में पशु-पक्षियों का निश्चिन्त होकर भ्रमण करना स्वाभाविक ही है। कालिदास ने भी शकुन्तला के पशु-पक्षियों से सौहार्दपूर्ण आत्यमीयता का वर्णन किया है।

तस्मिन्नृषिसभामध्ये शक्तिपुत्रं पराशरम्।
सुखासीनं महात्मानं मुनिमुख्यगणावृतम्॥ 8॥

इस प्रकार के शान्त, स्वच्छ, सात्त्विक एवं सुरम्य आश्रम में ऋषियों की एक सभा जुड़ी हुई थी और उस सभा के मध्य में प्रमुख मुनिगणों से घिरे हुए शक्तिपुत्र (समर्थ एवं तेज:पुञ्ज) महात्मा पराशर प्रसन्न मुद्रा में सुखी भाव से विराजमान थे।

कृताञ्जलिपुटो भूत्वा व्यासस्तु ऋषिभिः सह।
प्रदक्षिणाभिवादैश्च स्तुतिभिः समपूजयत्॥ 9॥

अपने साथ चल रहे ऋषियों के साथ व्यासजी ने वहां पहुंचकर अपना मस्तक अञ्जलि पर रखकर अभिवादनों, प्रदक्षिणाओं तथा स्तुतिवाक्यों से अपने पूज्य पिता पराशरजी का अर्चन-पूजन किया।

टिप्पणी—प्राचीनकाल में पूज्य महापुरुषों को दण्डवत् प्रणाम करने के समान ही उनकी प्रदक्षिणा करना भी पूजा-पद्धति के अन्तर्गत एक प्रचलित प्रथा थी। आज देवविग्रहों तथा देवालयों की प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा करने की प्रथा तो प्रचलित है, परन्तु गुरुजनों की प्रदक्षिणा करने की प्रथा लुप्त हो गयी है। गणेशजी अपने माता-पिता (पार्वती-परमेश्वर) की परिक्रमा के माध्यम से ही अपने भाई स्कन्द से पृथ्वी-परिक्रमा की प्रतिस्पर्द्धा में विजयी रहे थे।

अथ सन्तुष्टहृदयः पराशरमहामुनिः।
आह सुस्वागतं ब्रूहीत्यासीनो मुनिपुङ्गवः॥ 10॥

अपने पुत्र वेदव्यास को आया हुआ जानकर तथा उसके सद्व्यवहार को देखकर महर्षि पराशर ने विलक्षण आनन्द का अनुभव किया और अपने मुख पर हास्य बिखेरते हुए बैठे-बैठे ही (आनन्दातिरेक से उठने, पुत्र को गले से लगाने तथा उसका मुख चूमने एवं बलैया लेने-जैसी चेष्टाओं के द्वारा सामान्य मानव-जैसी आतुरता दिखाये बिना ही) उसका स्वागत किया, अर्थात् अपनी प्रसन्नता को प्रकट करने के माध्यम से उसके आगमन को शुभ माना और फिर उससे ऋषिवृन्द के साथ आने का प्रयोजन पूछा।

टिप्पणी—उक्ति प्रचलित है—"**प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते**"—मन्दबुद्धि व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, फिर ऋषियों के साथ विवेकसम्पन्न वेदव्यास का आगमन केवल दर्शनों के लिए तो नहीं होता। अतः पराशरजी का—"**ब्रूहि कथमागमनं तव**"—पूछना उचित था। वैसे भी यह एक सामान्य प्रवृत्ति है कि मिलने आये व्यक्ति से आने का कारण पूछा जाता है; क्योंकि सामान्यतया बन्धु-बान्धवों को छोड़कर कोई किसी के पास कार्य-विशेष से ही जाता है।

कुशलं सम्यगित्युक्त्वा व्यासः पृच्छत्यनन्तरम्।
यदि जानासि भक्तिं मे स्नेहाद्वा भक्तवत्सल!॥ 11॥

अपने पिता को अधिक समय तक उत्सुक न बनाये रखने की इच्छा से व्यासजी ने तत्काल कहा—पितृचरण! आपकी कृपा से मैं सब प्रकार से स्वस्थ-कुशल हूं। इस सम्बन्ध में आपको किसी प्रकार की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अपने उद्देश्य को वाणी देते हुए व्यासजी बोले—हे भक्तवत्सल! मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप अपने में मेरी भक्तिपूर्ण निष्ठा को जानते हैं और मेरे प्रति अपनी उदार कृपा-भावना रखते हैं।

धर्मं कथय मे तात! अनुग्राह्यो ह्यहं तव।
श्रुता मे मानवा धर्मा वासिष्ठाः काश्यपास्तथा॥ 12॥

यदि मेरी यह धारणा—मैं आपके प्रति पूर्णतः समर्पित हूं और आपका वरद-हस्त मेरे सिर पर है—सत्य है तथा यदि इसके अतिरिक्त आप मुझे दिव्यज्ञानोपदेश का उपयुक्त पात्र मानते हैं, तो मेरा आपसे विनम्र निवेदन है कि आप मुझे धर्मोपदेश देने की कृपा करें।

गार्गीया गौतमीयाश्च तथैवोशनसाः स्मृताः।
अत्रेर्विष्णोश्च संवर्ताद्दक्षादङ्गिरसस्तथा॥ 13॥
शातातपाच्च हारीताद्याज्ञवल्क्यात्तथैव च।
आपस्तम्बकृता धर्माः शङ्खस्य लिखितस्य च॥ 14॥
कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः।
श्रुता ह्येते भवत्प्रोक्ताः श्रुत्यर्था मे न विस्मृताः॥ 15॥

पूज्यवर! मैंने आपके मुखारविन्द से उपदेश के रूप में निम्नोक्त महर्षियों के दिव्य वचनों (मानवता से सम्बन्धित धर्मवाक्यों) का श्रवण किया है—

मनु, वसिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, उशना, अत्रि, विष्णु, संवर्त, दक्ष, अंगिरा, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, शंख, लिखित, कात्यायन तथा प्राचेतस।

इसके अतिरिक्त आपके द्वारा उपदिष्ट वेद-मन्त्रों के अर्थ भी मुझे विस्मृत नहीं हुए, अर्थात् मैंने यत्नपूर्वक उन्हें सुरक्षित रखा हुआ है।

इतना कुछ जानने पर भी पिता के पास ऋषियों को लाने का प्रयोजन बताते हुए व्यासजी बोले—

अस्मिन्मन्वन्तरे धर्माः कृतत्रेतादिके युगे।
सर्वे धर्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौ युगे॥ 16॥

सत्ययुग और त्रेतायुग में ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट-आदिष्ट सभी नियमोपनियम द्वापर तक तो चलते आ रहे थे, अर्थात् द्वापर युग के लोग परम्परागत धर्मों को गौरव देते थे, श्रद्धा-सम्मान सहित उनका पालन करते थे, परन्तु वैवस्वत मन्वन्तर में कलियुग के आने पर वे सभी धर्म नष्टप्राय हो गये हैं। कलियुग के लोग स्वेच्छाधारी

एवं उच्छृंखल हैं। वे धर्म-नियमों को न तो गौरव देते हैं और न ही निष्ठापूर्वक उनका पालन करते हैं। इस प्रकार एक नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है, जिसके कारण मैं इन सब ऋषियों के साथ आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं।

चातुर्वर्ण्यसमाचारं किञ्चित्साधारणं वद।
चतुर्णामपि वर्णानां कर्तव्यं धर्मकोविदैः॥ 17॥

परमाराध्य पितृदेव! आप मुझे चारों वर्णों के सामान्य आचारों की जानकारी देने की कृपा करें। मैं आपके द्वारा निर्दिष्ट धर्मों का इस प्रकार से प्रचार-प्रसार करूंगा कि जिससे धर्म में आस्था रखने वाले चारों वर्णों के लोगों को इनकी जानकारी हो जायेगी और फिर वे इनका पालन करके अपने जीवन को सफल बना सकेंगे। इस प्रकार आपका उपदेश श्रद्धालुजनों के लिए परम कल्याणकारी सिद्ध होगा।

ब्रूहि धर्मस्वरूपज्ञ! सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात्।
व्यासवाक्यावसाने तु मुनिमुख्यः पराशरः॥ 18॥
धर्मस्य निर्णयं प्राह सूक्ष्मं स्थूलं च विस्तरात्।
शृणु पुत्र! प्रवक्ष्यामि शृण्वन्तु मुनयस्तथा॥ 19॥

धर्म के तत्त्व एवं सत्स्वरूप के वेत्ता प्रभो! अतः आप कृपापूर्वक मुझे धर्म के दोनों—स्थूल और सूक्ष्म—स्वरूपों को विस्तार से बताने-समझाने का कष्ट करें।

व्यासजी के अपने वक्तव्य को समाप्त करने के उपरान्त मौन धारण करने पर मुनियों में अग्रगण्य एवं प्रमुख पराशरजी ने धर्म के दोनों—सूक्ष्म और स्थूल—रूपों को विस्तार से समझाना प्रारम्भ किया।

अपने पुत्र व्यासजी को और उनके साथ पधारे सभी मुनियों को सम्बोधित करते हुए पराशरजी बोले—विप्रो! आपके अनुरोध पर मैं आपको विस्तार से धर्म का तत्त्व बताने लगा हूं, आप लोग ध्यान देकर श्रवण करें।

कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्त्या ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।
श्रुति-स्मृति-सदाचारनिर्णेतारश्च सर्वदा॥ 20॥

प्रिय पुत्र एवं महर्षियो! आप लोगों को यह भली प्रकार विदित होना चाहिए कि प्रत्येक कल्प के अन्त में, अर्थात् सृष्टि का प्रलय होने पर तीनों—स्रष्टा, गोप्ता तथा नाशयिता, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव—भी अपने स्वरूप को छोड़ देते हैं,

वे क्षीण हो जाते हैं और फिर नये कल्प के प्रारम्भ में वे तीनों पुनः अपना स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस नये स्वरूप में आने पर वे तीनों नयी सृष्टि के लिए उपयुक्त श्रुति (वेद-मन्त्रों), स्मृति (धर्मशास्त्र) तथा सदाचार (व्रत, नियम, पूजा-पद्धति) आदि को प्रकाशित-स्थापित करते हैं।

न कश्चिद्वेदकर्त्ता च वेदस्मर्त्ता चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान्स्मरति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे॥ 21॥

ब्रह्माजी को वेदों का रचयिता नहीं, अपितु स्मरणकर्ता ही समझना चाहिए। वे नयी सृष्टि के उद्‌भव के समय नये रूप में आविर्भूत पूर्व ब्रह्मात्व के ज्ञान का स्मरण करते हैं और फिर वेद उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार पूर्वकल्प की समाप्ति के उपरान्त नये कल्प में आविर्भूत महाराज मनु भी सभी परम्परागत धर्मों का स्मरण करके स्मृति की रचना करते हैं। अभिप्राय यह है कि वेद और शास्त्र (श्रुति, स्मृति) अक्षय एवं शाश्वत ज्ञान-रूप है। ब्रह्मा आदि के समान ज्ञान अथवा ज्ञानपरक ग्रन्थों का भी तिरोभाव-आविर्भाव होता रहता है।

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे।
अन्ये कलियुगे पुंसां युगरूपानुसारतः॥ 22॥

सत्ययुग में पुरुषों के लिए आचरणीय धर्म भिन्न थे, त्रेतायुग के धर्म पूर्ववर्ती युग के धर्मों से तथा द्वापर के धर्म त्रेतायुग के धर्मों से भिन्न थे। कलियुग के धर्म तीनों पूर्ववर्ती युगों के धर्मों से नितान्त भिन्न हैं। वस्तुतः युगानुरूप ही धर्म होते हैं, अर्थात् जैसा युग होता है, वैसे ही धर्म भी होते हैं। इसीलिए प्रत्येक युग की स्मृतियों के स्वरूप में भिन्नता आ जाती है।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ 23॥

धर्म की युगानुरूप भिन्नता के तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—विप्रो! उदाहरण के रूप में सत्ययुग में तप ही सर्वप्रधान धर्म था। लोग कृच्छ्रातिकृच्छ्र तपश्चरण को ही अधिकाधिक महत्त्व देते थे। तप को ही सिद्धि का साधन माना जाता था। त्रेता में तप का स्थान ज्ञान ने ले लिया। ज्ञान को ही गौरव और प्रतिष्ठा मिल गयी। त्रेता के निष्ठावान् ज्ञान-प्राप्ति को ही मोक्ष का साधन मानने लगे। द्वापर में तप और ज्ञान का स्थान यज्ञ-यागादि ने ले लिया। अश्वमेध, गोमेध आदि वृहद् यज्ञों के आयोजन को धर्म माना जाने लगा। बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पन्न

करना राजा-महाराजाओं की प्रतिष्ठा का सूचक बन गया। कलियुग में स्थिति में फिर से परिवर्तन आ गया। क्रान्तद्रष्टा ऋषियों ने अनुभव किया कि कलियुग के अल्पायु, मन्दबुद्धि तथा अनुत्साही लोगों के लिए तप:साधन, ज्ञानार्जन तथा यज्ञ सम्पन्न करना आदि सम्भव ही नहीं, अत: यहां केवल दान को ही सर्वोत्तम धर्म माना गया है।

इसी आधार पर उपनिषद् में कहा गया है—**ह्रिया देयम्, भिया देयम्, श्रद्धया, देयम्, अश्रद्धया, देयम्, यथाकथमपि यत्किञ्चिदपि देयम्, देयम् देयम्, अवश्यमेव देयम्।**

अर्थात् लोकलाज से, धर्म के भय से, श्रद्धापूर्वक अथवा अश्रद्धापूर्वक, जैसे भी हो (मन से, बेमन से, इच्छा से, अनिच्छा से) जितना भी हो सके, दान अवश्य करना चाहिए।

भर्तृहरि ने इसी तथ्य को वाणी देते हुए कहा है—"**दानेन पाणिर्नतु कंकणेन**" अर्थात् व्यक्ति के हाथ की शोभा कंकण धारण करने से नहीं बढ़ती, अपितु दान देने से ही बढ़ती है।

तपोरत ब्रह्माजी को दिव्य तत्त्व के रूप में प्राप्त तीन 'द' अक्षरों—"**दत्त, दयध्वं, दम्यत्**" दान, दया तथा दमन—में भी प्रथम स्थान पर दान अवस्थित है।

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
द्वापरे शङ्खलिखितौ कलौ पाराशराः स्मृताः॥ 24॥

सत्ययुग में महाराज मनु द्वारा स्थापित नियमों-मर्यादाओं को मान्य किया जाता था। त्रेता में महर्षि गौतम धर्म के नियामक बन गये। उनके द्वारा प्रवर्तित नियमों को ही धर्म मानकर पालन किया जाने लगा। द्वापर में यह गौरव भ्रातृद्वय—शंख और लिखित—को प्राप्त हुआ। धर्म की व्यवस्था देने और नियमों के निर्देश का दायित्व उन पर आ गया। कलियुग के धर्मनियन्ता महर्षि पराशर हैं। कलियुग के लोगों की आयु, बुद्धि तथा क्षमता आदि की सीमा के परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा पालनीय यमनियमों का विधान करने का भार महर्षि पराशर के कन्धों पर है। स्पष्ट संकेत यह है कि जिज्ञासु महात्मा उपयुक्त स्थान पर ही आ पहुंचे हैं।

त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेकं तु कर्त्तारं च कलौ युगे॥ 25॥

चारों युगों में धर्म की व्यवस्था के सम्बन्ध में आये परिवर्तन की एक बानगी प्रस्तुत करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—सत्ययुग में पापाचरण करने वाले को

दण्ड के रूप में देश से निर्वासित होना पड़ता था। त्रेता में इस नियम को शिथिल कर दिया गया। इस युग में पापाचारी को केवल अपने ग्राम से निर्वासित कर दिया जाने लगा। द्वापर में इस नियम में और अधिक शिथिलता लायी गयी। पापाचारी अपने देश में ही नहीं, अपितु ग्राम में भी रह सकता था, उसे केवल अपने कुल-परिवार से सम्बन्ध न रखने का दण्ड भुगतना पड़ता था। कलियुग में तो पापाचारी को प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होने की सुविधा दे दी गयी है। प्रायश्चित्त न करने तक ही उसका परित्याग किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि ऋषियों ने धर्म-विधान में अव्यावहारिकता अथवा कठोरता *(Rigidity)* को न अपनाकर परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में गतिशीलता एवं लोच *(Flexibility)* को अपनाकर समय के साथ चलने की अपनी प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

कृते सम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा॥ 26॥

सत्ययुग में पापी के साथ भाषण करने वाला भी पतित माना जाता था, त्रेता में भाषण से प्रतिबन्ध हट गया, उसका स्पर्श पतन का आधार माना जाने लगा। द्वापर में दृष्टिकोण में और अधिक उदारता आयी। अब पापी के साथ सम्भाषण तथा उसके स्पर्श में कोई दोष नहीं माना जाता, केवल उसका अन्न ग्रहण वर्जित था। पापी के अन्न को ग्रहण करने वाला समाज में पतित माना जाता था। कलियुग में तो दृष्टिकोण में इतनी अधिक उदारता आ गयी कि पापी के संग को त्याज्य मानने-न मानने के प्रश्न को ही छोड़ दिया गया, केवल व्यक्ति को अपने पापकर्म से ही उसे पतित मानने की व्यवस्था दी गयी।

इस प्रकार नियम-निर्माता ऋषियों के दृष्टिकोण में समय के अनुसार आयी उदारता तथा व्यावहारिकता सचमुच ही प्रशंसनीय है।

कृते तात्क्षणिकः शापस्त्रेतायां दशभिर्दिनैः।
द्वापरे चैकमासेन कलौ संवत्सरेण तु॥ 27॥

चारों युगों के प्रभाव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए महर्षि पराशर का कथन है—सत्ययुग में दिया गया शाप-वरदान तत्काल प्रभावी होता था, अर्थात् परिणाम उसी क्षण सामने आ जाता था। त्रेता में शाप तथा वरदान के फलित होने में दस दिन लग जाते थे, अर्थात् वह दस दिनों के भीतर कभी भी फलित हो सकता था। सत्ययुग की तत्काल प्रभावी होने वाली तीव्रता नहीं रह गयी थी। द्वापर में शाप-

वरदान के फलित होने की अवधि दस दिन से बढ़कर एक महीना और कलियुग में एक वर्ष हो गयी।

अभिप्राय यह है कि कलियुग में शाप-वरदान के फलित होने की अवधि इतनी लम्बी होती है कि व्यक्ति को इनके फलस्वरूप मिलने वाले सुख-दुःखों (वरदान, शापों) के परिणाम होने की सुधि ही नहीं रहती। अतः वह अपनी स्थिति के लिए उत्तरदायी इन शापों-वरदानों को अपेक्षित महत्त्व ही नहीं दे पाता, जिससे इनकी विशिष्टता सुरक्षित ही नहीं रह पाती।

अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ॥ 28॥

सत्ययुग में भारतीयों का चरित्र इतना उदात्त था कि वे स्वयं ब्राह्मण के घर जाकर श्रद्धापर्वूक एवं चुपचाप दान देने में अपने को कृतकृत्य समझते थे। उन दिनों दान आत्मविज्ञापन का विषय (साधन) नहीं था। त्रेता में लोग दान के लिए स्वयं ब्राह्मणों के घर न जाकर उन्हें (ब्राह्मणों को) अपने घर बुलाते थे। द्वापर में लोग ब्राह्मणों द्वारा याचना किये जाने पर ही उन्हें दान देते थे और कलियुग में तो लोग केवल दक्षिणा को ही दान मानते हैं, अर्थात् ब्राह्मण द्वारा यज्ञ-याग, व्रत-पूजा तथा जप-पाठ आदि को सम्पन्न कराने-जैसी सेवा के पारिश्रमिक के रूप में दी जाने वाली दक्षिणा को ही दान मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

अभिगम्योत्तमं दानमाहूतञ्चैव मध्यमम्।
अधमं याचमानं स्यात्सेवादानं तु निष्फलम्॥ 29॥

यह एक निर्विवाद सत्य है कि ब्राह्मण के घर जाकर उसे दान देना उत्तम प्रकार का दान है; क्योंकि इसमें दाता के अहंकार का विगलन होता है और लेने वाले में हीनता का भाव नहीं आ पाता। ब्राह्मण को बुलाकर देना मध्यम कोटि का दान है; क्योंकि इसमें जहां दाता में अपने को ऊंचा समझने *(Superiority Complex)* की दूषित भावना निहित है, वहां गृहीता के हीनभावना से ग्रस्त होने की प्रवृत्ति है। याचना करते हुए ब्राह्मण को दान देना तृतीय कोटि का (अधम प्रकृति का) दान है; क्योंकि यहां स्वतः स्फूर्त भावना का अभाव है, यहां तो केवल द्रवणशीलता है। उदारता है, हृदय की कोमल भावना है, जिसे सहृदयता नाम दिया जा सकता है। इस सबके विपरीत (तीनों प्रकार के दानों से भिन्न) सेवा के बदले दिया दान तो दान न होकर पारिश्रमिक ही है।

जितो धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं चैवानृतेन च।
जिताश्चौरैश्च राजानः स्त्रीभिश्च पुरुषा जिताः॥ 30॥

कलियुग की विषम स्थिति का उल्लेख करते हुए महर्षि कहते हैं—कलियुग में धर्म से अधर्म, सत्य से असत्य, दण्डधर राजा से चोर तथा पुरुषों से स्त्रियां प्रबल हैं। अभिप्राय यह है कि कलियुग में अधर्म ने धर्म को, असत्य ने सत्य को, चोर-डाकुओं ने राजा को तथा स्त्रियों ने पुरुषों को दबा रखा है। इस युग में पाप और अनाचार का बोलबाला है।

सीदन्ति चाऽग्निहोत्राणि गुरुपूजा प्रणश्यति।
कुमार्यश्च प्रसूयन्ते तस्मिन्कलियुगे सदा॥ 31॥

कलियुग की शोचनीय, परन्तु सामान्य प्रवृत्ति है—अग्निहोत्र आदि यज्ञकर्मों की शिथिलता-उपेक्षा, गुरुजनों की अवज्ञा तथा कुमारी कन्याओं का शिशुजनन।

यही कलियुग का धर्मव्यवहार है, अर्थात् इस युग में इन अनर्थों को युगधर्म के रूप में ग्रहण किया जाता है।

कृते त्वस्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांसमाश्रिताः।
द्वापरे रुधिरं चैव कलौ त्वन्नादिषु स्थिताः॥ 32॥

सत्ययुग में प्राणियों की अस्थियों में उनका प्राण रहता था, अर्थात् वे शरीर की पुष्टि की ओर ध्यान नहीं देते थे, तपश्चरण द्वारा अपने शरीर को सुखाकर अस्थिमात्र कर देते थे। त्रेतायुग के प्राणियों के प्राण उनके शरीर में स्थित मांस में रहते थे, अर्थात् इस युग के प्राणी सत्ययुग के प्राणियों की अपेक्षा शारीरिक पौष्टिकता को अधिक महत्त्व देते थे। द्वापर के प्राणियों के प्राण उनके रुधिर में अवस्थित थे, जबकि कलियुग के प्राणियों के प्राण अन्नादि (खाने-पीने) में निवास करते हैं, अर्थात् कलियुग में लोग खाने-पीने को ही जीवन मानते हैं।

युगे युगे च ये धर्मास्तत्र तत्र च ये द्विजाः।
तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः॥ 33॥

वस्तुतः प्रत्येक युग के अपने-अपने धर्म, नियम और विधान होते हैं और इन नियमों-व्यवस्थाओं को धर्म का स्वरूप प्रदान करने वाले नियामक द्विज होते हैं। इन नियमों-विधानों का प्रवर्तन युग की आवश्यकता के अनुरूप होता है। अतः किसी भी युग के धर्म-नियमों की तथा इन नियमों के विधाता महानुभावों की कभी

निन्दा, आलोचना अथवा अवज्ञा कदापि नहीं करनी चाहिए। नियम-विधाता महापुरुषों को युगद्रष्टा मानकर उनका तथा उनके बनाये विधान का आदर करना चाहिए।

युगे युगे तु सामर्थ्यं शेषं मुनिविभाषितम्।
पराशरेण चाप्युक्तं प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ 34 ॥

प्रत्येक युग के प्राणियों के सामर्थ्य, परिस्थितियों तथा रुचि-प्रवृत्ति आदि को ध्यान में रखकर ही युगप्रवर्तक महर्षियों ने धर्म-नियमों तथा अन्यान्य महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं का प्रवर्तन किया है। महर्षि पराशर के प्रयास को भी इसी सन्दर्भ में देखना चाहिए तथा समझना चाहिए कि निर्दिष्ट नियमों से न्यून, अधिक अथवा भिन्न रूप से किये गये कार्य के दण्ड, क्षतिपूर्ति अथवा अपराध निवृत्ति अथवा दोष संशुद्धि का नाम ही प्रायश्चित्त है।

अहमद्यैव तत्सर्वमनुस्मृत्य ब्रवीमि वः।
चातुर्वर्ण्यसमाचारं शृण्वन्तु मुनिपुङ्गवाः ॥ 35 ॥

अपने पुत्र व्यासजी के साथ-साथ अभ्यागत महर्षियों को सम्बोधित करते हुए पराशरजी बोले—विप्रो! चारों युगों में विभिन्न महर्षियों द्वारा प्रणीत नियमों-विधानों का स्मरण करके मैं चारों वर्णों के लिए आचरणीय सदाचार को आपके समक्ष प्रकाशित करता हूं। आप लोग दत्तचित्त होकर श्रवण करें, जिससे कि मेरा श्रम सार्थक हो।

पराशरमतं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम्।
चिन्तितं ब्राह्मणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥ 36 ॥

आचारनिष्ठ ब्राह्मणों के लिए तथा धर्माचरण के लिए दिशा-निर्देश के रूप में महर्षि पराशर द्वारा निर्दिष्ट एवं गहन चिन्तन-मनन के उपरान्त निरूपित यह धर्मशास्त्र (पाराशरस्मृति के रूप में प्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थ) के पठन-श्रवण से पुण्य-लाभ होता है तथा इस पर आचरण करने से पापों का क्षय तथा स्वर्ग की प्राप्ति सुनिश्चित होती है।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः ॥ 37 ॥

चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—के लोगों के लिए निर्दिष्ट विभिन्न धर्मों का मूलाधार आचार है। आचार से भ्रष्ट एवं दूषित शरीर वाले व्यक्तियों से धर्म विमुख हो जाता है, अर्थात् उनके द्वारा धर्मपालन किये जाने का

कोई अर्थ ही नहीं रहता। अभिप्राय यह है कि किसी भी धर्म-कार्य की सफलता के लिए व्यक्ति का सर्वप्रथम शारीरिक दृष्टि से शुद्ध-पवित्र होना आवश्यक है, उसे सत्य से पूत वाणी का उच्चारण और पवित्र मन से लोक-व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर शुद्धि के उपरान्त किया गया धर्म-कार्य ही सार्थक एवं सफल होता है।

टिप्पणी—धर्मशास्त्र की यह एक स्पष्ट उद्घोषपरक चेतावनी है—

आचारहीनम् न पुनन्ति वेदाः।

भ्रष्ट आचरण वाले व्यक्ति की तो वेदग्रन्थ भी सहायता नहीं कर सकते। आचार की शुद्धि के लिए स्मृतिग्रन्थों की रचना हुई है। अतः इसी सन्दर्भ में स्मृतिग्रन्थों के महत्त्व को देखा जाना चाहिए।

षट्कर्माभिरतो नित्यं देवताऽतिथिपूजकः।
हुतशेषं तु भुञ्जानो ब्राह्मणो नावसीदति॥ 38॥

छह निर्धारित कर्मों—वेदों का पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञों का करना और कराना तथा दान लेना और देना—के पालन में तत्पर, देवों का पूजन तथा अतिथियों का सत्कार करने वाला और यज्ञशेष—बलिवैश्वदेव आदि से अवशिष्ट अन्न—का सेवन करने वाला ब्राह्मण कभी शोकग्रस्त नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए पालनीय नौ कर्म हैं—अध्ययन, अध्यापन, दान-प्रतिग्रह, यजन-याजन, देवाराधन, अतिथि-सत्कार तथा बलि देने के उपरान्त अवशिष्ट अन्न का सेवन। इन कर्मों का तत्परता से पालन करने वाला ब्राह्मण अभिनन्दनीय होता है।

यज्ञशेष के रूप में अन्न सेवन को पापनाशक मानते हुए गीता में भी कहा गया है—**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषः।** इसके विपरीत देवताओं-अतिथियों एवं पूज्यजनों को अर्पण किये बिना अपना उदरभरण करने वाले व्यक्ति तो महापातकी होते हैं—**भुञ्जन्ते हि त्वघं पापं ये पाचन्त्यात्मकारणात्।**

सन्ध्या स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट्कर्माणि दिने दिने॥ 39॥

ब्राह्मण को निम्नोक्त छह कर्म प्रतिदिन नित्यकर्म के रूप में करने चाहिए—1. तीनों—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं—सन्ध्याकालों (दो समयों—दिन और रात तथा पूर्वाह्न तथा अपराह्न का मिलनकाल सन्ध्याकाल कहलाता है।) में स्नान, 2. गायत्री-जप 3. यज्ञ-हवन 4. देवाराधन 5. अतिथि-सत्कार तथा 6. बलिवैश्व

देव। ब्राह्मण को प्रतिदिन इन कर्मों के अनुष्ठान का नियम बना लेना चाहिए।

इष्टो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
सम्प्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसङ्क्रमः ॥ 40 ॥

वैश्वदेव (सभी देवों के प्रतीक अथवा प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत देव-विशेष) को बलि दे चुकने के उपरान्त पधारने वाले व्यक्ति—भले ही वह वाञ्छनीय (प्रिय) हो अथवा सर्वथा अवाञ्छनीय (शत्रु) भी हो, मूर्ख हो अथवा पण्डित हो, जैसा भी क्यों न हो—को देवों का सजीव रूप एवं प्रतिनिधि मानकर उसका अभिनन्दन ही करना चाहिए और देवों द्वारा मनोनीत तथा स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला अतिथि समझना चाहिए।

टिप्पणी—अतिथि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही यही है—अनिश्चिता तिथिर्यस्य सः अतिथिः—अर्थात् जिसके आने का समय, दिन आदि निश्चित नहीं, उसे ही अतिथि समझना चाहिए। आजकल बाहर से आने वाले इष्टमित्रों तथा सगे-सम्बन्धियों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो अनुपयुक्त है। उनके लिए तो 'अभ्यागत' शब्द का प्रयोग ही करना चाहिए। वस्तुतः आज अतिथि के रूप में आने वाले अपरिचित साधु-ब्राह्मण आदि के सत्कार की प्रथा ही लुप्त हो गयी है। गृहस्थ ऐसे अपरिचित अतिथियों से किनारा करने लगे हैं। इसका कारण अतिथि-रूप में आने वाले व्यक्तियों द्वारा भ्रष्ट एवं हीन आचरण प्रस्तुत करना है और फिर दूध के जले गृहस्थों द्वारा छाछ की शीतलता को भी नकारना है, अन्यथा प्राचीन समय में तो अतिथि को भगवान् का रूप समझा जाता था और यह धारणा प्रचलित थी—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
सः तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

अतिथि का घर से निराश लौटना अपने सञ्चित पुण्यों का क्षय होना है।

दूराच्चोपगतं श्रान्तं वैश्वदेवे उपस्थितम्।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः ॥ 41 ॥

बलिवैश्वदेव के समय पहले आने वाले व्यक्ति की अपेक्षा दूर से चलकर आने वाले तथा यात्रा के कष्ट से पीड़ित, अर्थात् श्रान्त-क्लान्त व्यक्ति को ही अतिथि समझना-मानना चाहिए।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
अनित्यं ह्यागतो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥ 42॥

अपने ही ग्राम के रहने वाले व्यक्ति को कभी अतिथि-रूप में मान्य नहीं करना चाहिए; क्योंकि अतिथि शब्द का अर्थ ही है—नित्य दिखाई न देने वाला, अर्थात् अपरिचित एवं आश्रयहीन पथिक। ऐसे किसी पथिक के आ जाने पर उसे अतिथि मानना और उसका यथोचित स्वागत-सत्कार करना चाहिए।

अतिथिं तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत्स्वागतादिना।
तथाऽऽसनप्रदानेन पादप्रक्षालनेन च॥ 43॥
श्रद्धया चान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च।
गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद्गृही॥ 44॥

सद्गृहस्थ ब्राह्मण को किसी अपरिचित एवं श्रान्त-क्लान्त पथिक के अतिथि-रूप में पधारने पर सर्वप्रथम मधुर एवं विनम्र भाषण से उसका स्वागत करना चाहिए, उसे बैठने के लिए उत्तम आसन देना चाहिए, उसकी श्रान्ति के निवारण के लिए तथा उसके प्रति सम्मान का भाव दिखाने के लिए जल से उसके पैर धोने चाहिए।

नीतिशास्त्र के अनुसार भी गृहस्थ व्यक्ति को खिलाने-पिलाने का सामर्थ्य न होने पर भी अपने घर पधारे अतिथि को आसन देकर बिठाना, जल पिलाना और मधुर वचनों से रिझाना-जैसे कार्य तो अवश्य करने चाहिए—

तृणानि भूमिरुदकं चतुर्थी वाक् सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन्॥

पैर धोने के उपरान्त अतिथि को श्रद्धापूर्वक भोजन कराना चाहिए और उससे इधर-उधर की चर्चा करके उसके प्रति आत्मीयता का भाव दिखाना चाहिए। अतिथि द्वारा घर से विदा लेते समय उसके पधारने के लिए उसके प्रति आभार प्रकट करना चाहिए तथा कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे चलते हुए ग्राम के बाहर तक उसका साथ देना चाहिए।

इस प्रकार सद्गृहस्थ को अपने घर पधारे अतिथि को अपने सद्व्यवहार द्वारा प्रसन्न करने और प्रसन्न भाव से विदा करने की चेष्टा करनी चाहिए।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
पितरस्तस्य नाऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च॥ 45॥

काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च ।
अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः ॥ 46 ॥

अतिथि के रुष्ट अथवा निराश होकर घर से ख़ाली हाथ लौटने के दुष्परिणाम की चर्चा करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—जिस गृहस्थ के घर पर आया अतिथि निराश होकर, अर्थात् समुचित आदर-सत्कार न पाकर खिन्न-मन लौट जाता है, उस गृहस्थ के पितर अपने वंशजों को कुल-कलंक मानकर और उनसे रुष्ट होकर पन्द्रह वर्षों तक उसके हाथ से दिये अन्न-जल—श्राद्ध, तर्पण आदि—को ग्रहण नहीं करते। वे पितर कुलकपूत के द्वारा किये श्राद्ध-तर्पण से तृप्त होने की अपेक्षा भूख-प्यास से तड़पने को वरीयता देते हैं। अपात्र के अन्न-जल से तृप्त होने की अपेक्षा भूख-प्यास सहने को अच्छा समझते हैं।

अभिप्राय यह है कि अतिथि की उपेक्षा का परिणाम पितरों का कोप और उनकी दुर्गति के रूप में सामने आता है।

हज़ार मन समिधाओं और सौ मटके घी से निरन्तर यज्ञ-यागादि करने पर भी अतिथि की उपेक्षा के पाप से निष्कृति (छुटकारा) नहीं मिलती। वस्तुतः देवगण अतिथि-द्वेषी द्वारा दी गयी आहुति को ग्रहण ही नहीं करते। अतः उसका यजन ही निष्फल हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि अतिथि के अपमान का तो कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। यह एक ऐसा अपराध है, जिसका दण्ड केवल व्यक्ति को ही नहीं, अपितु उसके पितरों को भी भुगतना पड़ता है।

सुक्षेत्रे वापयेद्बीजं सुपात्रे निक्षिपेद्धनम्।
सुक्षेत्रे च सुपात्रे च ह्युप्तं दत्तं न नश्यति ॥ 47 ॥

जिस प्रकार उत्तम (उपजाऊ) धरती में बोया बीज कभी नष्ट नहीं होता, अपितु यथासमय अवश्य फलता-फूलता है, उसी प्रकार योग्य एवं सच्चे अधिकारी को दिये गये धन का अपेक्षित फल मिलता है। दूसरे अर्थों में जिस प्रकार अनुर्वर क्षेत्र में डाला गया बीज नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपात्र एवं अनधिकारी व्यक्ति को दिये गये दान का भी कोई फल नहीं मिलता।

टिप्पणी—इसी तथ्य को महाभारत में भी वाणी दी गयी है। पितामह भीष्म कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को प्रबोधित करते हुए कहते हैं—

दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्। अर्थात् निर्धनों, अभाव-पीड़ितों तथा असमर्थ पुरुषों को दान देने का महत्त्व है, पहले से ही समृद्ध व्यक्ति के लिए

दान का महत्त्व ही क्या है। जिस व्यक्ति के लिए जिस वस्तु का महत्त्व नहीं, वह उसे गौरव ही क्या देगा?

न पृच्छेद्गोत्रचरणे स्वाध्यायं च व्रतानि च।
हृदये कल्पयेद्देवं सर्वदेवमयो हि सः॥ 48॥

घर में पधारे अतिथि से उसके वर्ण, गोत्र, शिक्षा, योग्यता, आचरण तथा व्रत-नियम आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं पूछना चाहिए, अपितु अपने मन में यह कल्पना कर लेनी चाहिए कि सभी देवों की कृपा होने पर उनके रूप में ही यह व्यक्ति उसके घर आया है; क्योंकि यह एक वास्तविकता है कि अतिथि भगवान् का ही रूप होता है। अत: अतिथि के सामाजिक स्तर, शिक्षा-दीक्षा, वेशभूषा तथा आचार-व्यवहार आदि पर कुछ भी ध्यान न देकर पूर्ण श्रद्धा तथा मनोयोग से उसका स्वागत-सत्कार करना चाहिए।

अपूर्वः सुव्रती विप्रो ह्यपूर्वश्चातिथिर्यथा।
वेदाभ्यासरतो नित्यं त्रयोऽपूर्वं दिने दिने॥ 49॥

निम्नोक्त तीनों के अपने घर पर पधारने को अपने लिए परम सौभाग्य ही समझना चाहिए और भगवान् से इस सौभाग्य के नित्य-प्रति सुलभ होने की प्रार्थना करनी चाहिए—1. आचारनिष्ठ वेदपाठी ब्राह्मण, 2. अतिथि तथा 3. गुरुकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाला चरित्रवान् ब्रह्मचारी। किसी पुण्यवान् गृहस्थ के घर ही इन तीनों का पधारना होता है। अत: यदि ये तीनों प्रतिदिन भी पधारें, अर्थात् प्रतिदिन किसी शास्त्रज्ञ ब्राह्मण का, किसी अतिथि का तथा किसी बटुक का आगमन हो, तो इसे अपना परम सौभाग्य मानकर प्रसन्न मन एवं उदार हृदय से इनका स्वागत करना चाहिए। इन्हें किसी प्रकार का भार समझने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए।

वैश्वदेवे तु सम्प्राप्ते भिक्षुके गृहमागते।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्वा विसर्जयेत्॥ 50॥

बलिवैश्वदेव के समय किसी भिक्षुक के अपने घर पर आ जाने पर सद्गृहस्थ को वैश्वदेव की बलि के लिए अपेक्षित सामग्री को—अलग से निकाल शेष अन्न-धान्यादि—उस भिक्षुक को सौंप देना चाहिए।

यातिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ।
तयोरन्नमदत्वा च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ 51॥

दोनों—संन्यासी और ब्रह्मचारी—को गृहस्थ से भोजन पाने का पूरा-पूरा अधिकार है। अत: भोजन के समय इन दोनों के अथवा दोनों में से एक के आ जाने पर उन्हें भोजन न कराने वाला गृहस्थ भारी पाप का भागी होता है। इस पाप की निवृत्ति के लिए उसे चान्द्रायण-जैसे कृच्छ्र व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए, अन्यथा वह भ्रष्ट एवं पतित माना जाता है।

दद्याच्च भिक्षात्रितयं परिव्राड्ब्रह्मचारिणाम्।
इच्छया च ततो दद्याद्विभवे सत्यवारितम्॥ 52॥

ब्रह्मचारी तथा संन्यासी के अपने घर आने पर गृहस्थ को उन्हें अपने सामर्थ्य के अनुसार सर्वप्रथम पेय जल—लस्सी, शरबत, दूध अथवा रस (*जूस* आदि अथवा डाभ-नारियल का पानी) आदि देना चाहिए। तत्पश्चात् भोजन कराना चाहिए। और उसके पश्चात् पीने के लिए पुन: जल-तक्र आदि देना चाहिए। इन तीनों भिक्षाओं के देने के अतिरिक्त विदा होते ब्रह्मचारी-संन्यासी को सामर्थ्य और इच्छा के अनुसार दक्षिणा-रूप वस्त्र, आभूषण तथा नक़द आदि भी दिया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का कोई निषेध नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दान-दक्षिणा-रूप में कुछ देने की शक्ति अथवा इच्छा न हो, तो वह क्षम्य है, परन्तु घर पधारे ब्रह्मचारी और संन्यासी को तीन भिक्षाओं—जल, अन्न और जल—का देना तो गृहस्थ का अनिवार्य धर्म है।

टिप्पणी—आजकल की किसी प्रिय अथवा सम्मानित बन्धु-बान्धव के आने पर पहले जल-पान, ठण्डा, गरम कराया जाता है और फिर भोजन परोसा जाता है। भोजन के उपरान्त फल, मोदक आदि प्रस्तुत किया जाता है और फिर विदा होते समय उपहार-रूप में फलों की पिटारी, मिठाई का डिब्बा अथवा नक़द सौंपा जाता है। गृहस्थ को अतिथि-रूप में पधारे ब्रह्मचारी और संन्यासी के प्रति इसी प्रकार के व्यवहार करने का निर्देश दिया गया है। यहां केवल उपहार आदि देने-न देने की छूट है।

यतिहस्ते जलं दद्याद्भैक्ष्यं दद्यात् पुनर्जलम्।
तद्भैक्ष्यं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरोपमम्॥ 53॥
यस्य छत्रं हयश्चैव कुञ्जरारोहमृद्धिमत्।
ऐन्द्रस्थानमुपासीत तस्मात्तं न विचारयेत्॥ 54॥

संन्यासी के पधारने पर उसे हाथ-पैर आदि धोने के लिए तथा तृषा निवृत्ति के लिए दिये जल का, पुनः क्षुधा निवृत्ति के लिए समर्पित अन्न का और अन्त में पुनः मुखशौचादि के लिए दिये जल का गृहस्थ को बहुत पुण्य मिलता है। जल-दान का सागर के दान जितना पुण्य-लाभ होता है।

इस पुण्य के प्रभाव से गृहस्थ अपने जीवनकाल में छत्र, अश्व, गज तथा अन्यान्य वैभव को पाने का तथा मरणोपरान्त सुख-विलास से समृद्ध इन्द्रलोक को जाने का अधिकारी बन जाता है। अतः गृहस्थ को घर-पधारे संन्यासी की पात्रता-अपात्रता, अर्थात् शिक्षा-दीक्षा, योग्यता आदि के विचार के झञ्झट को छोड़कर अन्न-जलादि से उसे तृप्त-प्रसन्न कर उसका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि अतिथि-रूप में आये संन्यासी की योगतया की जांच-परख नहीं करनी चाहिए, अपितु वह जैसा भी हो, उसके पधारने को सौभाग्य मानना चाहिए और प्राप्त अवसर को दुर्लभ मानकर उसका उपयोग करना चाहिए, अर्थात् समुचित आदर-सत्कार से प्रसन्न करके ही उसे विदा करना चाहिए।

वैश्वदेवकृतं पापं शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम्।
न हि भिक्षुकृतान्दोषान्वैश्वेदवो व्यपोहित॥ 55॥

भिक्षु की सेवा-शुश्रूषा से तो परिहार किया जा सकता है, परन्तु भिक्षु की उपेक्षा के रूप में उसके प्रति किये गये अपराध का परिशोधन किसी प्रकार के यज्ञ-यागादि से नहीं किया जा सकता।

अभिप्राय यह है कि घर पर पधारे संन्यासी की अवमानना अथवा उपेक्षा को तो एक अपूरणीय क्षति के रूप में ही ग्रहण करते हुए उससे बचना चाहिए, अन्यथा फल-भोग निश्चित ही है।

अकृत्वा वैश्वदेवं तु भुञ्जन्ते ये द्विजायतः।
तेषामन्नं न भुञ्जीत काकयोनिं व्रजन्ति ते॥ 56॥

बलिवैश्वदेव यज्ञ—पञ्च भूतों—काक, श्वान, गाय, ब्राह्मण तथा अतिथि—को बलि देना बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाता है—किये बिना भोजन करने वाले अधम द्विजों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थों—के घर का अन्न कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह निश्चित समझना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति मरणोपरान्त काकयोनि में उत्पन्न होकर मल-मूत्रादि का सेवन करते हैं।

अकृत्वा वैश्वदेवं तु भुञ्जन्ते ये द्विजाधमाः।
सर्वे ते निष्फला ज्ञेया पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ 57॥

वैश्वदेव कर्म किये बिना भोजन करने वाले निकृष्ट कोटि के गृहस्थों द्वारा किये गये सभी पुण्य कार्य निष्फल हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप ऐसे दुष्ट-पापी मरने पर अत्यन्त दूषित एवं मलिन नरकों में वास करते हैं।

वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति च॥ 58॥

अतिथि-सेवा तथा वैश्वदेव कर्म न करने वाले उद्यमी प्राणी अपने जीवन काल में तो अनेक दुःख-क्लेशों को भुगतते हैं, मरने पर भी नरक-यातनाएं सहते हैं और फिर काक-उलूक आदि निकृष्ट योनि में जन्म लेकर नाना कष्टों से तड़पने को विवश होते हैं।

पापी वा यदि चाण्डालो विप्रघ्नः पितृघातकः।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसङ्क्रमः॥ 59॥

वैश्वदेव कर्म के समय अतिथि-रूप में पधारने वाले व्यक्ति के पापी, चाण्डाल, ब्रह्मघाती तथा माता-पिता की हत्या करने वाला होने पर भी उसके पापकर्मों की उपेक्षा करके उसका श्रद्धाभक्तिपूर्वक स्वागत-सत्कार करना चाहिए। उसे स्वर्ग-लाभ कराने वाला तथा ईश्वर द्वारा प्रेपित 'देवदूत' ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि वैश्वदेव कर्म के समय आने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसके गुण-दोषों की ओर ध्यान दिये बिना ही उसका श्रद्धापूर्वक अभिनन्दन करना चाहिए। वस्तुतः उसके आगमन को अपना परम सौभाग्य समझना चाहिए।

यो वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
वामपादे करं न्यस्य तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ 60॥

सिर पर पगड़ी लपेटकर, दक्षिण की ओर मुख करके तथा बायें पैर पर हाथ रखकर कभी भोजन नहीं करना चाहिए। इस विधान का पालन न करने वाला व्यक्ति राक्षस प्रवृत्ति का कहलाता है। इन तीनों को भूलकर भी नहीं अपनाना चाहिए।

यतये काञ्चनं दत्वा ताम्बूलं ब्राह्मचारिणे।
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत्॥ 61॥

संन्यासी को स्वर्ण, ब्रह्मचारी को पान तथा चोरों को अभयदान (आश्रय, छिपाना आदि) देने वाला नरकगामी होता है।

संन्यासी को स्वर्ण अथवा नक़दी मिलने पर उसमें या तो संग्रह-संरक्षण की या फिर अपव्यय की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। ये दोनों प्रवृत्तियां पतन का मार्ग प्रशस्त करती हैं, व्यक्ति को आचारहीन बनाती हैं, जिसका उत्तरदायित्व स्वर्ण आदि के दाता पर जाता है। इसी प्रकार पान के कामोत्तेजक होने से ब्रह्मचारी को उसका सेवन कराना उसका व्रत भंग करना है। यही स्थिति चोरों को अभयदान देने की है। चोरों का पता लगते ही उसकी सूचना सरकार को देना और इस प्रकार उपद्रवों के शमन करने में सरकार की सहायता करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। चोर-डाकुओं को अभयदान देने का अर्थ, तो उन्हें अपने निकृष्ट कर्म के लिए प्रोत्साहित करना है, धर्म और न्याय की हत्या करना है। अत: विवेकशील नागरिक को ये तीनों कार्य कदापि नहीं करने चाहिए। न तो संन्यासी को धन देना चाहिए, न ब्रह्मचारी को पान और न ही चोर-डाकुओं को अभय देना चाहिए।

शुक्लवस्त्रं च यानं च ताम्बूलं धातुमेव च।
प्रतिगृह्य कुलं हन्यात्प्रतिगृह्णाति यस्य च॥ 62॥

शुक्ल वस्त्र, वाहन, ताम्बूल तथा धातु—स्वर्ण, रजत आदि—के पात्र को दान-रूप में ग्रहण करने वाले संन्यासी तथा ब्रह्मचारी दोनों—अपने तथा दाता के कुलों को नरकगामी बनाने के उत्तरदायी होते हैं।

अभिप्राय यह है कि गृहस्थ द्वारा संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को स्वर्ण-रजत आदि मूल्यवान् धातु, वाहन-रथ, अश्व, गज तथा ऊंट आदि सफ़ेद वस्त्र तथा पान आदि कभी दान, उपहार आदि के रूप में नहीं देने चाहिए; क्योंकि इन पदार्थों के पाने से उनका व्रत-साधन खण्डित हो जाता है।

न गृह्णाति तु यो विप्रो ह्यतिथिं वेदपारगम्।
अदत्तं चान्नमात्रं तु भुक्त्वा भुंक्ते तु किल्बिषम्॥ 63॥

वेद-विद्या के पारंगत ब्राह्मण के अतिथि-रूप में पधारने पर किसी भी कारण—अभाव, अश्रद्धा, अनास्था तथा प्रमादवश उसे अन्न-जल आदि से प्रसन्न किये बिना, स्वयं भोजन करने वाला गृहस्थ भोजन के रूप में अतिथि के पापों को ही खाता है, अर्थात् अतिथि के पाप आतिथेय के खाते में जुड़ जाते हैं। अभिप्राय स्पष्ट है कि वेदज्ञ ब्राह्मण को भोजन कराने के उपरान्त ही अन्न-जल ग्रहण करना चाहिए।

ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निरूषरमकण्टकम्।
वापयेत्सर्ववस्तूनि सा कृषिः सर्वकामिका॥ 64॥

वेदपाठी ब्राह्मण का मुख कण्टक-रहित उर्वर क्षेत्र के समान है। जिस प्रकार ऊसर-रहित (उर्वर) और कांटों से रहित (भली प्रकार ज़ुते) खेत में बोया बीज ख़ूब फलता-फूलता है, उसी प्रकार विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मण को भोजन आदि से सन्तुष्ट करने पर व्यक्ति की सभी कामनाएं स्वतः सफल-सिद्ध हो जाती हैं। अतः विवेकशील सद्गृहस्थ को ऐसे अवसर को हाथ से जाने नहीं देना चाहिए।

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः॥ 65॥

राजा को वेद-विद्या का अध्ययन किये बिना तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना भिक्षा मांगने में प्रवृत्त होने वाले ब्राह्मणों को भिक्षा देने पर भिक्षा देने वाले लोगों को ही नहीं, अपितु पूरे ग्राम (सभी ग्रामवासियों) को दण्डित करना चाहिए; क्योंकि अयोग्यों एवं अनधिकारियों को भिक्षा देना तो चोरों को संरक्षण देने के समान दण्डनीय अपराध है।

अभिप्राय यह है कि यदि अशिक्षितों को आदर मिलने लगेगा, तो कोई शिक्षा-ग्रहण में प्रवृत्त ही क्यों होगा? अतः केवल सुशिक्षित, व्रत-सम्पन्न एवं योग्य ब्राह्मणों को ही दान देना चाहिए। मूर्खों को तो सुशिक्षित होने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥ 66॥

प्रजा की रक्षा करना—दुर्बलों को सबलों के अत्याचारों से बचाना, सभी को उन्नति के अवसर जुटाना, सभी के प्राणों, सम्पत्ति और सम्मान की सुरक्षा की गारण्टी देना—क्षत्रिय राजा का कर्तव्य-कर्म है। अतः उसे शस्त्र धारण किये रहना चाहिए तथा अपराधियों को दण्डित करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। उसे शत्रुसेना पर विजय पाने के लिए उत्साही होना चाहिए तथा धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने के प्रति समर्पित होना चाहिए।

न श्रीः कुलक्रमाज्जाता भूषणोल्लिखिताऽपि वा।
खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या वसुन्धरा॥ 67॥

लक्ष्मी न तो किसी की कुल-परम्परा में बनी रहने के किसी नियम में बंधी

हुई है और न ही किसी के भाग्य से सदा के लिए जुड़ी रहने के लिए वचनबद्ध है। वस्तुतः लक्ष्मी तो वीरों का वरण करने वाली है। अपने शस्त्र-बल से शत्रुओं से उनका सर्वस्व छीनने वाले साहसी एवं वीर पुरुषों के सिर पर ही लक्ष्मी अपना वरद हस्त रखती है। इस सम्बन्ध में उक्ति प्रसिद्ध है—पृथिवी पर शासन करने के सच्चे अधिकारी वीर पुरुष ही होते हैं।

पुष्पं पुष्पं विचिनुयान्मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवाऽऽरामे न यथाऽङ्गारकारकः॥ 68॥

जिस प्रकार माली, वृक्ष-लताओं से फल-पुष्प आदि तोड़-चुन लेता है, किसी पौधे को जड़ से कभी नहीं उखाड़ता; क्योंकि जड़ से जुड़े रहने पर ही पौधे का बार-बार फलना-फूलना सम्भव है, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा धन कर के रूप में वसूल करना चाहिए। प्रजा को चूसना नहीं चाहिए। उसे यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि कोयला बनाने वाले खान को जड़-मूल से खोद डालते हैं, तो उन्हें एक ही बार कोयला मिलता है।

अभिप्राय यह है कि अपनी आय के स्रोत को निरन्तर बनाये रखने के इच्छुक राजा को खान खोदने वाले को नहीं, अपितु माली को ही अपना आदर्श बनाना चाहिए।

लाभकर्म तथा रत्नं गवां च प्रतिपालनम्।
कृषिकर्म च वाणिज्यं वैश्यवृत्तिरुदाहृता॥ 69॥

वैश्यों की आजीविका के साधन-रूप कार्य हैं—

1. धन का लेन-देन (ऋण आदि) करना, 2. रत्न आदि मूल्यवान् धातुओं का क्रय-विक्रय करना, 3. पशुपालन, 4. कृषि तथा 5. वाणिज्य।

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा परमो धर्म उच्यते।
अन्यथा कुरुते किञ्चित्तद्भवेत्तस्य निष्फलम्॥ 70॥

तीनों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—वर्णों के लोगों की सेवा करना ही शूद्र का परम धर्म है। तीनों वर्णों के लोगों की सेवा के अतिरिक्त शूद्र द्वारा किया गया कोई भी अन्य कर्म सर्वथा निष्फल एवं निरर्थक होता है।

लवणं मधु तैलं च दधि तक्रं घृतं पयः।
न दुष्येच्छूद्रजातीनां कुर्यात्सर्वेषु विक्रयम्॥ 71॥

शूद्र निम्नोक्त सात पदार्थों का विक्रय कर सकता है, अर्थात् द्विजों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—को शूद्र से इन पदार्थों को ख़रीदने में संकोच नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये पदार्थ शूद्र के हाथ का स्पर्श पाकर भी शुद्ध बने रहते हैं—

1. नमक, 2. मधु, 3. तेल, 4. दही, 5. छाछ, 6. घी तथा 7. दूध।

टिप्पणी—कुछ शास्त्रकारों ने शूद्र के हाथ से दही और छाछ के ग्रहण का निषेध किया है। दूध के सम्बन्ध में कच्चे, अर्थात् गरम न किये गये, पशु से दुहे को ग्रहण की मान्यता दी गयी है।

विक्रीणन्मद्यमांसानि ह्यभक्ष्यस्य व भक्षणम्।
कुर्वन्नगम्यागमनं शूद्रः पतति तत्क्षणात्॥ 72॥

निम्नोक्त तीन निषिद्ध कार्यों को करने पर शूद्र तत्काल पतित—द्विजों की सेवा के अयोग्य—हो जाता है—

1. मद्य, मांस आदि का विक्रय,

2. अभक्ष्य—गोमांस आदि—का भक्षण तथा

3. अगम्या स्त्री—गुरुपत्नी, पुत्री, भगिनी अथवा अपने से उच्च वर्ण की स्त्री—का गमन।

टिप्पणी—प्राचीनकाल में पतित हो जाने का अर्थ जीवन का अधिकारी न रहना था।

कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रस्य नरकं ध्रुवम्॥ 73॥

अपने लिए निम्नोक्त तीन निषिद्ध कार्यों को करने से शूद्र निश्चित रूप से नरकगामी होता है—

1. कपिला गाय के दुग्ध का अनादर करना,

2. ब्राह्मणी का संग करना तथा

3. वेद-मन्त्रों पर आक्षेप करना।

॥ इति चातुर्वर्ण्याचार नामक प्रथम अध्याय॥

दूसरा अध्याय

गृहस्थ-धर्माचार

अतः परं गृहस्थस्य कर्माचारं कलौ युगे।
धर्मं साधारणं शक्त्या चातुर्वर्ण्याश्रमागतम्॥ 1॥

पराशरजी बोले—पुण्यात्मा महर्षियो! अब तक मैंने आप लोगों के समक्ष कतिपय साधारण तथा कतिपय विशेष धर्मों का परिचय दिया है। अब मैं आपको कलियुग में चारों वर्णों के लोगों द्वारा गृहस्थ आश्रम में आचरणीय नियमों की जानकारी दूंगा, आप लोग सर्वथा सावधान होकर श्रवण करें।

तं प्रवक्ष्याम्यहं पूर्वं पराशरवचो यथा।
षट्कर्मनिरतो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत्॥ 2॥

पूर्वकाल में जैसा मैं (पराशर) ने अपने आश्रम में आकर जुटे जिज्ञासु महात्माओं को बताया था, वैसा ही मैं अब आप लोगों को भी बताने जा रहा हूं। मेरी अब भी यह निश्चित धारणा है कि ब्राह्मण को अपने लिए नियत छह धर्मों—वेद पढ़ना-पढ़ाना (स्वाध्याय), यज्ञ करना-कराना तथा दान देना और लेना—के अतिरिक्त कृषि-कर्म (खेती) भी करना चाहिए।

क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत्।
हीनाङ्गं व्याधितं क्लीबं वृषं विप्रो न वाहयेत्॥ 3॥

कृषि कार्य करते हुए ब्राह्मण को निम्नोक्त स्थिति के बैल से हल जोतने, रहट चलाने अथवा सामान ढोने-जैसे किसी भी भारी एवं श्रमसाध्य कार्य नहीं लेने चाहिए—

1. क्षुधित—भूख से पीड़ित, 2. तृषित—प्यास से व्याकुल, 3. श्रान्त—थका-मांदा, 4. हीनांग—लंगड़ा, काना, अन्धा आदि, 5. व्याधित—रोग-ग्रस्त तथा 6. क्लीव-बधिया किया गया।

उपर्युक्त छह स्थितियों में बैल प्रायः शारीरिक रूप से नहीं, अपितु मानसिक रूप से भी कार्य करने में असमर्थ होता है। ऐसी स्थिति वाले बैल को जुए आदि में जोतने पर उसके गिर पड़ने तथा प्राण त्यागने तक की सम्भावना बनी रहती है। इससे जीवहत्या का पाप तो लगता ही है, पशुधन की हानि भी सहनी पड़ती है। अतः बैल से काम लेने के लिए उसके स्वस्थ एवं सामान्य होने की प्रतीक्षा करनी आवश्यक है।

स्थिराङ्गं नीरुजं दृप्तं सुनर्दं षण्ढवर्जितम्।
वाहयेद्दिवसस्यार्द्धं पश्चात्स्नानं समाचरेत्॥ 4॥

कृषि-कार्यरत ब्राह्मण को निम्नोक्त स्थिति वाले बैल से आधे दिन के लिए कार्य लेना चाहिए, अर्थात् उसे अधिक-से-अधिक छह-सात घण्टे जोतना चाहिए। उसके उपरान्त उसे विश्राम, स्नान और भोजन आदि के लिए मुक्त कर देना चाहिए—1. स्थिर-दृढ़ अंगों वाला, अर्थात् हृष्ट-पुष्ट, 2. किसी प्रकार के रोग से रहित, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ, 3. दृप्त—अपने बल के कारण उद्धत एवं चञ्चल, 4. उत्तम पाचन शक्ति रखने वाला, अर्थात् खा-पीकर डकारें लेने वाला तथा 5. पुंसत्व-सम्पन्न, अर्थात् न बधिया हुआ।

इस प्रकार स्वस्थ एवं पुष्ट बैल से भी उसकी शक्ति-सीमा के अनुरूप ही काम लेना चाहिए, थकावट से अधमरा करना उचित नहीं।

जप्यं देवार्चनं होमं स्वाध्यायं चैवमभ्यसेत्।
एकद्वित्रिचतुर्विप्रान्भोजयेत्स्नातकान् द्विजः॥ 5॥

ब्राह्मणों को नित्य-प्रति नियमपूर्वक जप, देव-पूजन, यज्ञ-यागादि का सम्पादन तथा वेदों का अध्ययन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें एक, दो, तीन अथवा चार ब्राह्मण विद्यार्थियों के नियमित भोजन की व्यवस्था का दायित्व भी संभालना चाहिए। अभिप्राय यह है कि उसे सीमित रूप में अपने घर को गुरुकुल का रूप देना चाहिए, निर्धन विद्यार्थियों को शिक्षित करने का पुनीत कार्य करना चाहिए।

स्वयंकृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः।
निर्वपेत्यञ्चयज्ञानि क्रतुदीक्षाञ्च कारयेत्॥ 6॥

अपने द्वारा जोते गये खेत में, अपने द्वारा बोये अन्न के पकने पर, अपने द्वारा ही काटी उपज से, ब्राह्मण को बलिवैश्वदेव आदि पञ्च यज्ञों को तथा समय-समय पर आवश्यक समझे जाने वाले यज्ञों को सम्पन्न करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को स्वयं कृषि-कार्य करने के रूप में अन्न आदि के विषय में आत्मनिर्भर होना चाहिए।

तिला रसा न विक्रेया विक्रेया धान्यतः समाः।
विप्रस्यैवंविधा वृत्तिस्तृणकाष्ठादिविक्रयः॥ 7॥

ब्राह्मण को अपने खेत में उत्पन्न तिलों, तिलों को पेलने से निकले तेल, गोरस—दूध, दही, मक्खन, घी, आदि—को बेचना नहीं चाहिए। अपने पास इन पदार्थों के आवश्यकता से अधिक होने पर अथवा किसी दूसरे की मांग की पूर्ति की आवश्यकता का अनुभव होने पर तिल आदि पदार्थों का दूसरे अन्नों—धान्य, चना आदि—से विनिमय कर लेना चाहिए।

ब्राह्मण की वृत्ति ही ऐसी होती है कि उसे नक़द धन के लिए तिल-रस आदि पदार्थों का विक्रय नहीं करना चाहिए। नक़द धन की पूर्ति के लिए उसे घास-फूस और लकड़ी आदि बेचने का अधिकार है।

ब्राह्मणश्चेत्कृषिं कुर्यात्तन्महादोषमाप्नुयात्।
अष्टगव्यं धर्महलं षड्गवं वृत्तिलक्षणम्॥ 8॥

ब्राह्मण को कृषि करने का अधिकार केवल उसे आत्मनिर्भर बनाने की दृष्टि से ही दिया गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि वह अपने कर्तव्य-कर्मों को छोड़कर कृषक अथवा व्यापारी बन जाये। यही कारण है कि आठ बैलों से जोते जाने वाले हल को ही धर्म-हल माना गया है और ब्राह्मण को अपनी वृत्ति चलाने के लिए केवल छह बैलों वाले हल से ही खेती करने की अनुमति दी गयी है।

चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं गोजिघांसुवत्।
द्विगवं वाहयेत्पादं मध्याह्ने तु चतुर्गवम्॥ 9॥

छह बैलों से जोते जाने वाले हल को चार बैलों से चलवाना नृशंसता है। ऐसी क्रूरता—बैलों पर अधिक भार डालना तथा उनकी सामर्थ्य से बढ़कर उनसे काम लेना—सर्वथा अनुचित है। छह बैलों से खींचे जाने वाले हल को दो बैलों से खिंचवाना, तो बैलों पर घोर अत्याचार है। यह गोहत्या-जैसा पापकर्म है। यदि विवशतावश ऐसा करना पड़ जाये, अर्थात् छह बैलों का काम दो बैलों से लेना पड़ जाये, तो उनसे अधिक-से-अधिक एक प्रहर—तीन घण्टे—तक और छह बैलों का काम चार बैलों से लेना पड़ने पर अधिक-से-अधिक दो प्रहरों—छह घण्टों—

तक ही उन्हें जोतना चाहिए, इससे अधिक समय तक बैलों से कदापि काम नहीं लेना चाहिए।

षड्गवं तु त्रियामाहेऽष्टभिः पूर्णं तु वाहयेत्।
नाप्नोनि नरकेष्वेवं वर्त्तमानस्तु वै द्विजः॥ 10॥

छह बैलों से जोते जाने वाले हल पर छह ही बैल लगा देने पर तीन प्रहरों—नौ घण्टों—तक उनसे काम लिया जा सकता है और यदि आठ बैल लगा दिये जाते हैं, तो फिर उनसे दिन-भर, अर्थात् चार प्रहरों—बारह घण्टे—तक काम लिया जा सकता है। ऐसा करने वाला ब्राह्मण न तो पाप का भागी बनता है और न ही नरक-गामी होता है; क्योंकि उसने पशुओं को किसी प्रकार से उत्पीड़ित किया ही नहीं है, उनकी सामर्थ्य से अधिक भार उन पर डाला ही नहीं है। वस्तुतः इतना कार्य लेना तो एक सामान्य स्थिति ही है।

दानं दद्याच्च वै तेषा प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्।
संवत्सरेण यत्पापं मत्स्यघाती समाप्नुयात्॥ 11॥
अयोमुखेन काष्ठेन तदेकाहेन लाङ्गली।
पाशको मत्स्यघाती च व्याधः शाकुनिकस्तथा॥ 12॥

अपने परिश्रम से किये कृषि-कर्म द्वारा उत्पादित अन्न का दान ब्राह्मण के लिए अत्युत्तम स्वर्ग-प्राप्ति का साधन होता है।

अभिप्राय यह है कि अन्न का दान तो वैसे भी पुण्यकर्म है, परन्तु ब्राह्मण द्वारा अपने खेत में स्वयं बोये-काटे अन्न का दान तो निश्चित रूप से अत्युत्तम होने के कारण उसे स्वर्ग-लाभ कराने वाला होता है।

एक अन्य दृष्टि से भी इस दान की महत्ता है—

ब्राह्मणों को यह नहीं भूलना चाहिए कि वर्ष-भर मछली पकड़ने-मारने वाले को स्वयं मछली न खाने पर भी जितना पाप लगता है, उतना ही पाप लोहे की नोक वाले काठ के हल को एक ही दिन खेत में चलाने से लगता है; क्योंकि पृथिवी के नीचे विचरण करते न जाने कितने जीवों की अनजाने में हत्या हो जाती है। उन असंख्य जीवों की हत्या के प्रायश्चित्त के रूप में कृषि की उपज के कुछ भाग को दान में देना आवश्यक ही है। ऐसा न करने वाले कृषक को दूसरों को फांसी लगाने वाले जल्लाद को, मछलियों को पकड़ने वाले मछेरे को, पक्षियों को पकड़ने वाले चिड़ीमार को तथा पशुओं का वध करने वाले व्याध को लगने वाले पाप का भागी बनना पड़ता है।

अदाता कर्षकश्चैव पञ्चैते समभागिनः।
कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भोऽथ मार्जनी॥ 13॥
पञ्चसूना गृहस्थस्य ह्यहन्यहनि वर्त्तते।
वैश्वदेवो बलिर्भिक्षा गोग्रासो हन्तकारकः॥ 14॥

अपनी उपज का कुछ भाग दान न करने वाला कृषक-गृहस्थ निम्नोक्त पांच कर्मों—1. अनाज को ओखली में कूटना, 2. चक्की में पीसना, 3. चूल्हे पर पकाना, 4. पानी का मटका भरकर रखना तथा 5. झाड़ू से धरती को साफ़ करना—प्रतिदिन असंख्य जीवों की हत्या करने को विवश होता है। इस रूप में उसे अपने गृहस्थ को चलाने के लिए उससे अनजाने असंख्य जीवों की हत्या हो जाती है, जिसके पाप के परिहार के लिए पांच बलिवैश्वदेवों का विधान किया गया है। वे हैं—काक बलि, श्वान बलि, गोग्रास, ब्राह्मण-भोजन तथा अतिथि-सत्कार। इन पांचों बलियों का नाम बलिवैश्वदेव है और इस प्रकार प्रतिदिन अन्न-दान करने से गृहस्थ पाप-मुक्त हो जाता है।

गृहस्थः प्रत्यहं कुर्यात्सूनादोषैर्न लिप्यते।
वृक्षांश्छित्वा महीं भित्वा हत्वा च कृमिकीटकान्॥ 15॥

गृहस्थ को नियमित रूप से प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पञ्चबलि देने (बलिवैश्वदेव यज्ञ करने) से वृक्षों को काटने का, धरती को खोदने-फाड़ने का तथा धरती के भीतर के कीट-मकोटों की हत्या करने के पाप का भागी नहीं बनना पड़ता।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि गृहस्थ को अपनी लकड़ी आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए तथा कृषक को अपने खेत की उपज को सूर्य का समुचित प्रकाश जुटाने के लिए समय-समय पर वृक्षों को काटना पड़ जाता है। शास्त्रों में फल-फूल और छाया के अतिरिक्त पक्षियों का आश्रय देने वाले वृक्ष को काटना पाप माना गया है। इसी प्रकार उत्तम खेती के लिए धरती की गहरी खुदाई करना भी आवश्यक होता है। इस खुदाई में अनजाने ही असंख्य क्षुद्र जीवों की हत्या का पता ही नहीं चलता, परन्तु हत्या होने में तो कोई सन्देह नहीं है। इन सब ज्ञात-अज्ञात पापों के निवारण के लिए गृहस्थों को प्रतिदिन बलिवैश्वदेव यज्ञ करना होता है।

कर्षकः खलयज्ञेन सर्वपापैः प्रमुच्यते।
यो न दद्याद्द्विजातिभ्यो राशिमूलमुपागतः॥ 16॥

बलिवैश्वदेव यज्ञ की महिमा का वर्णन करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—विप्रो! अनाज को काटने-छांटने तथा साफ़-सुथरा करने के उपरान्त इकट्ठा (समेट)

करके ढेर बना देने पर वहां पहुंचे ब्राह्मण, भिक्षुक आदि को दान में अन्न न देना भारी पाप है, ऐसा पाप कृषक को कभी नहीं करना चाहिए। कृषक को अन्न की ढेरी पर आये ब्राह्मण को अन्न देकर, उससे अपनी समृद्धि एवं कुशलता का आशीर्वाद लेना चाहिए। अपने प्रमाद, अहंकार, द्वेष अथवा मात्सर्य के कारण अन्न के भण्डारण के समय आये ब्राह्मण को निराश एवं रिक्तहस्त लौटाने वाले मूर्ख कृषक के इस भारी पाप का परिहार भी बलिवैश्वदेव यज्ञ से हो जाता है। वस्तुतः बलिवैश्वदेव सभी पापों से मुक्ति दिलाने वाला अमोघ साधन एवं दिव्य यज्ञ है।

स चौरः स च पापिष्ठो ब्रह्मघ्नं तं विनिर्दिशेत्।
राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानां चैकविंशतिम्॥ 17॥

अपनी उपज के अन्न का छठा भाग राजा को और इक्कीसवां भाग देवता (धर्मार्थ) को अर्पित न करने वाले कृषक को चोर, पापी और ब्रह्महत्या करने वाला समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि ऐसे चोर के पाप का तो कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है।

विप्राणां त्रिंशकं भागं सर्वपापैः प्रमुच्यते।
क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा देवान्विप्रांश्च पूजयेत्॥ 18॥

अपनी उपज में से राजा को और देवों को उनका निर्धारित अंश न देने वाला कृषक ब्राह्मणों को अपनी उपज का तीसरा भाग देने से चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—मूल-पाठ 'त्रिंशकम्' है, जो हमें उपयुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि राजा को छठा हिस्सा और धर्मार्थ में इक्कीसवां भाग न देकर ब्राह्मणों को 1/30वां भाग देना लाभ का सौदा है। इसमें अपराधी कृषक पर किसी प्रकार का कोई भार नहीं पड़ता, अपितु ऐसा करना सुविधाजनक है। पाप का प्रायश्चित्त तो तब ही होगा, जब अपराधी को सामान्य की अपेक्षा अधिक देना पड़े। अतः हमारे विचार में यह पाठ 'त्र्यंशं' अथवा 'तृतीयांशम्' होना चाहिए, तभी संगति बैठेगी।

महर्षि पराशर के अनुसार क्षत्रिय को भी खेती करके अपने द्वारा उगाये गये पुष्प-फलों से देवों का आराधन करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय को भी व्यवसाय के रूप में न सही, ख़ाली समय का सदुपयोग करने के लिए हॉबी *(Hobby)* के रूप में घर में गृह-वाटिका *(Kitchen Garden)* में देव-पूजा के लिए अपेक्षित पुष्प-फल वाले पेड़ पौधे लगाने चाहिए।

इस प्रकार अपने श्रम, सेवाओं व फल-पुष्प देवों को समर्पित करने का विशेष फल मिलता है। देवता प्रसन्न होकर यजमान को कृतकृत्य कर देते हैं।

वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात्कृषिवाणिज्यशिल्पकान्।
विकर्मं कुर्वते शूद्रा द्विजसेवाविवर्जिताः ॥ 19 ॥

वैश्य तथा शूद्र भी कृषि-कर्म, वाणिज्य और शिल्प—मूर्ति-निर्माण, चित्र-रचना आदि—कर सकते हैं; परन्तु यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपने लिए निर्धारित कर्म—द्विजों की सेवा का परित्याग—न करने वाला शूद्र महापापी होता है।

भवन्त्यल्पायुषस्ते वै निरयं यान्त्यसंशयम्।
चतुर्णामपि वर्णानामेष धर्मः सनातनः ॥ 20 ॥

अपने कर्तव्य-कर्म की उपेक्षा करने वाला शूद्र क्षीणायु होता है, अर्थात् वह थोड़े समय तक जीता है, शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसके अतिरिक्त वह मरणोपरान्त नरक में जाता है और अनेक भयंकर कष्टों को झेलता है—इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

पराशरजी बोले—चारों वर्णों के जिन धर्मों को हमने आपके समक्ष वर्णन किया है, वे सनातनकाल से चले आ रहे हैं। इनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है। अतः इनका यथावत् पालन करना धर्म और पुण्य-रूप है।

॥ इति गृहस्थ-धर्माचार नामक द्वितीय अध्याय ॥

तीसरा अध्याय

जनन-मरण-सूत्तिकाशुद्धि

अतः शुद्धिं प्रवक्ष्यामि जनने मरणे तथा।
दिनत्रयेण शुध्यन्ति ब्राह्मणाः प्रेतसूतके॥ 1॥

महर्षि पराशरजी अपने सामने बैठे ऋषि-मुनियों को सम्बोधित करते हुए बोले—विप्रो! अब मैं आप लोगों को जन्म और मृत्यु के कारण होने वाले अशौच के सम्बन्ध में—जितने दिनों तक अशुद्धि रहती है—इसकी जानकारी दूंगा। आप लोग दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

ब्राह्मण अपने घर में हुए जन्म तथा मरण के कारण तीन दिनों तक अपवित्र रहता है। तीन दिनों के उपरान्त वह शुद्ध-पवित्र हो जाता है। अभिप्राय यह है कि घर में प्रसव तथा देहान्त होने पर ब्राह्मण को तीन दिनों तक वेद-पाठ, यज्ञ-याग तथा पूजा-पाठ आदि नहीं करना चाहिए। तीन दिनों के उपरान्त स्नान करने पर ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है।

क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहकैः।
शूद्रः शुध्यति मासेन पराशरवचो यथा॥ 2॥

पराशरजी बोले—पुण्यकर्मा बन्धुओ! अपने किसी सपिण्डी—रक्त-सम्बन्धी, अर्थात् भाई-भतीजा, पुत्र-पौत्र, पत्नी, पुत्रवधू आदि—का देहावसान होने पर क्षत्रिय बारह दिनों के उपरान्त, वैश्य पन्द्रह दिनों के उपरान्त तथा शूद्र एक महीने के उपरान्त शुद्ध होता है। अशुद्धि के दिनों में किसी वर्ण के व्यक्ति को शास्त्राध्ययन, देवदर्शन तथा यज्ञ-यागादि करने की अनुमति नहीं होती। उस अवधि में तो व्यक्ति को शोक-सन्तप्त रहना होता है।

उपासने तु विप्राणामङ्गशुद्धिश्च जायते।
ब्राह्मणानां प्रसूतौ तु देहस्पर्शो विधीयते॥ 3॥

ब्राह्मणों को अशौच-काल में यज्ञ-यागादि को सम्पन्न करने की थोड़ी छूट देते हुए महर्षि पराशर बोले—महानुभावो! अग्निहोत्र आदि उपासना-मूलक कर्मों को सम्पन्न करने के लिए ब्राह्मण उतने समय के लिए शुद्ध मान लिया जाता है—यह स्थिति तो मरण सम्बन्धी अशौच के लिए है। जन्म सम्बन्धी शौच की स्थिति में तो ब्राह्मण के शरीर का स्पर्श करने में, अर्थात् उसका अभिवादन करने में तथा उसके द्वारा यज्ञ आदि सम्पन्न कराने में किसी प्रकार का कोई दोष नहीं। ब्राह्मण का शरीर तो अग्नि के समान सदैव शुद्ध ही है। जल का मार्जन ही उसकी शुद्धि के लिए पर्याप्त है।

जाते विप्रो दशाहने द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति॥ 4॥

घर में पुत्र के उत्पन्न होने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रमशः दस, बारह, पन्द्रह और तीस दिनों तक अपवित्र रहते हैं। इस अवधि के बीतने के उपरान्त ही वे स्नानादि से शुद्ध-पवित्र होते हैं।

एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।
त्र्यहात् केवलवेदस्तु द्विहीनो दशभिर्दिनैः॥ 5॥

अशुद्धि की अवधि में संशोधन करते हुए पराशर जी कहते हैं—वेदपाठी तथा अग्निहोत्री, अर्थात् ज्ञानी, विद्वान् और क्रियावान् ब्राह्मण घर में पुत्र के उत्पन्न होने पर एक ही दिन में शुद्ध हो जाता है, परन्तु वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण के अग्निहोत्री—यज्ञ-याग करने के नियम का पालन करने वाले—न होने पर तीन दिनों के उपरान्त ही उसकी शुद्धि होती है। इसके विपरीत बाह्मण न तो वेदों का ज्ञाता है और न ही अग्निहोत्री—नियमित रूप से नित्य-प्रति यज्ञ-यागादि को करने वाला—ब्राह्मण, तो दस दिनों के उपरान्त ही शुद्ध होता है।

टिप्पणी—यज्ञानुष्ठान के व्रतधारी ब्राह्मण के नित्य-नियम में बाधा न पड़ने देने के उद्देश्य से ही उसकी एक दिन में शुद्धि का विधान किया गया है।

जन्मकर्मपरिभ्रष्टः सन्ध्योपासनवर्जितः।
नामधारकविप्रस्य दशाहं सूतकं भवेत्॥ 6॥

ब्राह्मण के कुल में जन्म लेकर भी जन्मकाल से लेकर सारी आयुपर्यन्त ब्राह्मणोचित कर्मों से भ्रष्ट, आचरणहीन पतित तथा सन्ध्योपासनादि न करने वाला ब्राह्मण तो नाममात्र का ही ब्राह्मण है। ऐसे ब्राह्मण को मृत्युजन्य तथा प्रसवजन्य अशौच की निवृत्ति में दस दिन का समय लगता है।

टिप्पणी—केवल जन्म से ही ब्राह्मण होना पर्याप्त नहीं, कर्मों का भी उत्तम एवं उज्ज्वल होना आवश्यक है। कर्महीन ब्राह्मण का ब्राह्मण-कुल में जन्म ही निरर्थक है। महर्षि पराशर यहां कर्मों को महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं।

अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी नवसूतिका।
दशरात्रेण संशुध्येद्भूमिष्ठं च नवोदकम्॥ 7॥

नवप्रसूता बकरी, गाय तथा भैंस आदि दस दिनों के उपरान्त शुद्ध होती हैं, अर्थात् इनके प्रसूता होने के दस दिनों के पश्चात् ही इनके दूध का सेवन करना चाहिए। वर्षा से प्रथम बार भीगी धरती भी दस दिनों के उपरान्त शुद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि प्रथम वर्षा की जलबिन्दुओं के पड़ने के दस दिनों के उपरान्त ही कोई मांगलिक कार्य करना चाहिए। इसके पीछे यही रहस्य प्रतीत होता है कि जब तक तीन चार बरसातें नहीं हो जातीं, तब तक उमस बनी रहती है, वातावरण में शीतलता आने के लिए ही कदाचित् दस दिनों तक की प्रतीक्षा का विधान किया गया है।

एकपिण्डास्तु दायादाः पृथग्दारनिकेतनाः।
जन्मन्यपि विपत्तौ च तेषां तत्सूतकं भवेत्॥ 8॥

एक ही पिता, परन्तु भिन्न जाति की स्त्री—उदाहरणार्थ, ब्राह्मण का ब्राह्मणी के, क्षत्रिया के और वैश्या—के उदर से उत्पन्न बालक सपिण्डी (सगे भाई) होने के साथ-साथ दायाद (पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी) कहलाते हैं। इन सभी भाइयों—भले ही वह क्षत्रिया से उत्पन्न हो अथवा वैश्या से, ब्राह्मण का वीर्य होना चाहिए—को अपने पिता के ही समान मृत्यु और सूतक में अशौच लगता है, अर्थात् माता के सम्बन्ध से उनके अशौच के दिनों में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं पड़ता।

प्राप्नोति सूतकं गोत्रे चतुर्थ पुरुषेण तु।
दायाद्विच्छेदमाप्नोति पञ्चमो वात्मवंशजः॥ 9॥

इन दायादों—एक ही जाति के पिता की विभिन्न जाति की स्त्रियों के उदर से उत्पन्न सपिण्डियों—की दायादता अगली तीन पीढ़ियों—पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र—तक ही चलती है। अपने से पांचवीं पीढ़ी—स्वयं, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के उपरान्त पर-प्रपौत्र—में पहुंचने पर यह सपिण्डता अथवा दायादता छूट जाती है, अर्थात् परिवार में होने वाले जन्म-मरण से लगने वाला 'अशौच' का क्रम समाप्त हो जाता है।

टिप्पणी—आज तो दूसरी पीढ़ी में ही सम्बन्धों की इतनी अधिक दूरी हो जाती है कि एक सपिण्डी के सुख-दुःख की दूसरे सपिण्डी को जानकारी ही नहीं रहती। इतना ही नहीं, सत्य तो यह है कि जानकारी पाने में रुचि तक नहीं रहती।

चतुर्थे दशरात्रं स्यात्षण्णिशाः पुंसि पञ्चमे।
षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे तु दिनत्रयात्॥ 10॥

यदि किन्हीं परिवारों में दायादता बनी रहती है, सपिण्डता का दूर तक निर्वाह होता है, तो परिवार में होने वाले जन्म-मरण का अशौच चतुर्थ पीढ़ी में दस दिनों का, पांचवीं पीढ़ी में छह दिनों का, छठी पीढ़ी में चार दिनों का और सातवीं पीढ़ी में तीन दिनों का रह जाता है।

भृग्वग्निमरणे चैव देशान्तरमृते तथा।
बाले प्रेते च सन्न्यस्ते सद्यः शौचं विधीयते॥ 11॥

निम्नोक्त पांच स्थितियों में प्राण त्यागने वाले सम्बन्धी के मरण का अशौच स्नान करते ही तत्काल समाप्त हो जाता है—

1. पर्वत से गिरकर मरना, 2. अग्नि से जलकर मरना, 3. विदेश अथवा परदेश में प्राण त्याग करना, 4. जन्मकाल अथवा बाल्यावस्था—यज्ञोपवीत संस्कार कराने से पूर्व—मरना तथा 5. संन्यास ग्रहण करने के उपरान्त देह छोड़ना।

देशान्तरमृतः कश्चित्सगोत्रः श्रूयते यदि।
न त्रिरात्रमहोरात्रं सद्यः स्नात्वा शुचिर्भवेत्॥ 12॥

विदेश अथवा परदेश गये किसी सपिण्डी की मृत्यु का समय बीतने (साल-छह महीनों के बाद) पर सूचना मिलने पर उसके लिए तीन दिनों का अशौच नहीं बनता, अपितु स्नान करने मात्र से ही तत्काल शुद्धि हो जाती है।

देशान्तरं गतो विप्रः प्रवासात्कालकारितात्।
देहनाशमनुप्राप्तस्तिथिर्न ज्ञायते यदि॥ 13॥
कृष्णाष्टमी त्वमावस्या कृष्णा चैकादशी च या।
उदकं पिण्डदानं च तत्र श्राद्धं च कारयेत्॥ 14॥

विदेश अथवा परदेश में गये ब्राह्मण की प्रवासकाल में ही मृत्यु हो जाने पर और मृत्यु की निश्चित तिथि की सही जानकारी न होने पर कृष्णपक्ष की अष्टमी अथवा एकादशी अथवा अमावस्या को उसका श्राद्ध-तर्पण, पिण्डदान तथा तर्पण

आदि करना चाहिए। इन तिथियों में दिवंगत बन्धु की सद्गति के लिए यह सब श्राद्ध-तर्पण आदि करना अत्यन्त आवश्यक है।

अजातदन्ता ये बाला ये न गर्भाद्विनिःसृताः।
न तेषामग्निसंस्कारो नाशौचं नोदकक्रिया॥ 15॥

दांतों के उगने (निकलने) से पूर्व तथा गर्भ से बाहर निकलते ही मर जाने वाले शिशुओं का न तो दाह-संस्कार किया जाता है, न ही उनका अशौच लगता है और न ही उनका तर्पण करना होता है।

यदि गर्भो विपद्येत स्त्रवते वापि योषितः।
यावन्मासस्थितो गर्भो दिनं तावत्तु सूतकम्॥ 16॥

किसी स्त्री के गर्भ का स्राव—गर्भधारण से लेकर चार महीनों तक के गर्भ का गिरना स्राव कहलाता है—अथवा पतन—गर्भधारण के चार महीनों के पश्चात् गर्भ का गिरना पतन कहलाता है—हो जाने पर जितने महीनों के गर्भ की हानि होती है, उतने दिनों का अशौच मानना चाहिए।

आ चतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः।
अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत्॥ 17॥

महर्षि पराशर के अनुसार—गर्भधारण से चार महीनों तक के गर्भ के गिरने का नाम स्राव है, जिसके लिए महीनों की संख्या के अनुरूप अशौच लगता है। पांचवें अथवा छठे महीने के गर्भ का गिरना गर्भपात कहलाता है। यहां भी गर्भधारण की अवधि के अनुरूप पांच अथवा छह दिनों का अशौच लगता है। इस अवधि के उपरान्त, अर्थात् सातवें, आठवें अथवा नौवें महीने गिरने वाला गर्भ प्रसव कहलाता है, जिसके लिए दस दिनों तक अशौच लगता है।

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अग्निसंस्करणे तेषां त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥ 18॥

दांतों के उगने अथवा न उगने पर, परन्तु चूड़ाकर्म (मुण्डन) संस्कार हो जाने पर प्राण त्यागने वाले शिशु का एक तो दाहकर्म किया जाता है तथा दूसरे सपिण्डियों को तीन दिनों का अशौच लगता है।

आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृताः।
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्॥ 19॥

दांतों के उगने—निकलने तक प्राण त्यागने वाले शिशु का उसी क्षण के लिए, चौल कर्म—वस्त्र धारण करने की एक प्रथा, कुछ लोग इस प्रथा को नामकरण संस्कार के साथ भी जोड़ देते हैं—के उपरान्त शिशु के प्राण त्यागने पर एक दिन का तथा व्रतबन्ध—गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के लिए मनोनीत—होने तक, अर्थात् उपनयन संस्कार के सम्पन्न होने पर, परन्तु गुरुकुल में प्रस्थान करने से पूर्व प्राण त्यागने वाले शिशु का तीन दिनों तक तथा गुरुकुल में प्रस्थान कर जाने के उपरान्त बालक के देह त्यागने पर दस दिन का अशौच लगता है।

ब्रह्मचारी गृहे येषां हूयते च हुताशनः।
सम्पर्कं चेन्न कुर्वीत न तेषां सूतकं भवेत्॥ 20॥

ब्रह्मचारी तथा अग्निहोत्री—प्रतिदिन घर में यज्ञ-हवन करने वाला गृहस्थ—सपिण्डी घर में किसी के जन्म अथवा देहावसान होने पर सम्बन्धियों से खान-पान का तथा मिलने-जुलने आदि-जैसा किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध न रखने पर अशौच का पात्र नहीं बनता, अर्थात् इन दोनों को सूतक-पातक आदि नहीं लगते।

सम्पर्काद् दूष्यते विप्रो जनने मरणे तथा।
सम्पर्केषु निवृत्तस्य न प्रेतं नैव सूतकम्॥ 21॥

जन्म तथा मरण से लगने वाले सूतक-पातक आदि दोषों से तो ब्राह्मण तभी ग्रस्त होता है, जब वह जन्म-मरण वाले परिवारों के लोगों के साथ खान-पान का तथा मिलने-जुलने का सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार के किसी सम्बन्ध के न होने पर, तो ब्राह्मण के अशौच के पात्र बनने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

शिल्पिनः कारुका वैद्या दासीदासाश्च नापिताः।
राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः॥ 22॥

अपने परिवार से जुड़े निम्नोक्त शिल्पियों तथा विशिष्ट महानुभावों की मृत्यु हो जाने पर, इनके अशौच की स्नान करते ही तत्काल शुद्धि हो जाती है—

चितेरा, कारुक—बढ़ई, जुलाहा, नाई, धोबी तथा चमार (किन्हीं ग्रन्थों में कारुक के रूप में परिगणित इन पांचों को शिल्पी नाम दिया गया है)—वैद्य, दासी, दास, नापित, राजा तथा क्षोत्रिय-वेदपाठी ब्राह्मण।

टिप्पणी—यहां नापित की गिनती दो बार हुई है। लगता है कि कुछ नापित क्षौरकर्म से जुड़े रहते थे, तो कुछ नापित कालान्तर में लड़का-लड़की के विवाह

सम्बन्ध को स्थिर करने के कार्य से जुड़ गये थे। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के नापितों के ग्रहणार्थ नापित शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है।

सव्रतो सत्रपूतश्च आहिताग्निश्च यो द्विजः।
राज्ञश्च सूतकं नास्ति यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ 23 ॥

1. चान्द्रायण आदि कुछ व्रतों का अनुष्ठान करने वाले द्विजों, 2. यज्ञ यागादि को सम्पन्न करने से पवित्र बने हुए द्विजों तथा 3. नित्य-प्रति घर में नित्य एवं नैमित्तिक यज्ञकर्मों के व्रत का निर्वहण करने वाले द्विजों के अतिरिक्त, 4. राजा (आज के युग में मन्त्री, सचिव आदि) को तथा राजा (राजपुरुषों) द्वारा राज्यकर्म के सम्यक् निर्वहण के लिए वाञ्छित राजपुरुषों (सरकारी अधिकारियों और उनसे जुड़े कर्मचारियों) को सूतक-पातक के कारण होने वाला अशौच नहीं लगता। इन लोगों को सामान्य का अपवाद ही समझना चाहिए।

टिप्पणी—'द्विज' शब्द से तीनों—ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य—वर्णों के व्यक्ति अभिप्रेत हैं। इस सम्बन्ध में मनु का कथन अवलोकनीय है—**जन्मना जायते शूद्रः संस्कारेण द्विज उच्यते।** अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार—गुरुकुल वेदाध्ययन का अधिकार-पत्र प्राप्ति—के उपरान्त व्यक्ति 'द्विज' कहलाता है। यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को प्राप्त होने के कारण द्विज तथा द्विजाति शब्द से इन तीनों वर्णों के लोगों का आभास होता है।

उद्यतो निधने दाने आर्तो विप्रो निमन्त्रितः।
तदेव ऋषिभिर्दृष्टं यथाकालेन शुध्यति ॥ 24 ॥

ऋषियों ने निम्नोक्त तीन प्रकार अथवा स्थितियों के व्यक्तियों को भी कार्य-काल में (दान देते-लेते समय) शुद्ध माना है—

1. मरणासन्न व्यक्ति, 2. अतिव्याधि (असाध्य रोग) से ग्रस्त व्यक्ति तथा 3. दान लेने के लिए आमन्त्रित ब्राह्मण।

प्रसवे गृहमेधी तु न कुर्यात्सङ्करं यदि।
दशाहाच्छुध्यते माता त्ववगाह्य पिता शुचिः ॥ 25 ॥

पुत्र आदि के जन्म के समय अपनी पत्नी तथा नवजात शिशु का स्पर्श न करने वाला सद्गृहस्थ पिता स्नान मात्र से तत्काल शुद्ध हो जाता हैं। इसके अतिरिक्त सन्तान को जन्म देने वाली महिला दस दिनों के उपरान्त शुद्ध-पवित्र होती है।

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादपस्पृश्य पिता शुचिः॥ 26॥

परिवार में प्रसव होने पर तो केवल नवोत्पन्न के माता-पिता को अशौच लगता है। पिता भी अपनी पत्नी और नवजात शिशु को न छूने पर स्नान तथा आचमन करते ही शुद्ध हो जाता है। अत: केवल सन्तान को जनने वाली महिला ही दस दिनों तक अशौच-अशुद्ध रहती है। दस दिनों तक उसका स्पर्श करने वाले को अशौच लगता है। अत: दस दिनों तक उससे दूर रहना चाहिए, परन्तु परिवार में मृत्यु हो जाने पर सभी सपिण्डियों को एक समान निश्चित अवधि तक अशौच लगता है। इस प्रकार उनके सम्पर्क में आने वाले अथवा उनका स्पर्श करने वाले स्नान से शुद्ध होते हैं।

यदि पत्न्यां प्रसूतायां सम्पर्कं कुरुते द्विजः।
सूतकं तु भवेत्तस्य यदि विप्रः षडङ्गवित्॥ 27॥

सद्य:प्रसूता पत्नी एवं शिशु का स्पर्श, चुम्बन आदि करने वाले ब्राह्मण के वेद-वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) के निष्णात पण्डित होने पर भी दस दिनों तक अशौच बना रहता है। इस अवधि के उपरान्त स्नान और वस्त्रों की धुलाई के बाद वह शुद्ध-पवित्र होता है।

सम्पर्काज्जायते दोषो नान्यो दोषोऽस्ति वै द्विजे।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सम्पर्कं वर्जयेद् बुधः॥ 28॥

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि ब्राह्मण को संसर्ग से ही दोष लगता है। अत: अशुचिता-जैसे दोष से बचने के इच्छुक द्विज को नवप्रसूता स्त्री और उत्पन्न शिशु—ज़च्चा-बच्चा—के स्पर्श से दूर रहना चाहिए।

विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके।
पूर्वसङ्कल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति॥ 29॥

विवाह, उत्सव और यज्ञ के अनुष्ठान के मध्य ही घर में प्रसव हो जाने पर पूर्व संकल्पित पदार्थों-वस्तुओं आदि के दान में बाधा नहीं पड़ती, अर्थात् अशुचिता नहीं लगती।

अभिप्राय यह है कि प्रसव को बहाना बनाकर संकल्पित दान से मुकरना नहीं चाहिए।

अन्तरा तु दशाहस्य पुनर्मरणजन्मनि।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम्॥ 30॥

परिवार में प्रसव अथवा मृत्युजन्य एक अशौच की अवधि में ही दूसरा प्रसव अथवा मरण हो जाये, तो विद्वानों का एक वर्ग तो दसवें दिन के उपरान्त दोनों प्रकार के अशौचों की निवृत्ति मानता है, परन्तु एक अन्य वर्ग द्वितीय अशौच के दिन से दस दिनों के उपरान्त ब्राह्मण का शुद्ध होना स्वीकार करता है।

ब्राह्मणार्थे विपन्नानां वन्दिगोग्रहणे तथा।
आहवेषु विपन्नानामेकरात्रमशौचकम्॥ 31॥

निम्नोक्त स्थितियों में प्राण त्यागने वालों के सम्बन्धियों को एक दिन का अशौच लगता है। दूसरे दिन स्नान करते ही वे शुद्ध हो जाते हैं—

1. ब्राह्मण की रक्षा के प्रयास में शरीर का छूटना,
2. बन्दी (निरपराध) को छुड़ाने के प्रयास में प्राण-हानि,
3. गाय को बन्धनमुक्त कराने में देह का छूट जाना तथा
4. समर-भूमि में शत्रु से लोहा लेते हुए मारा जाना।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ 32॥

संसार में निम्नोक्त दो प्रकार के पुरुषों को सूर्यमण्डल को भेदकर स्वर्ग में पहुंचने वाला माना गया है—

1. योग-साधना द्वारा प्राण त्यागने वाला सिद्ध संन्यासी तथा
2. युद्धभूमि में पीठ न दिखाने वाला, अर्थात् अपनी छाती पर वार झेलते हुए शरीर छोड़ने वाला वीर पुरुष।

यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः।
अक्षयांल्लभते लोकान् यदि क्लीबं न भाषते॥ 33॥

शत्रुओं से घिरने पर विचलित न होने वाला तथा शत्रुओं के आगे गिड़गिड़ाने के रूप में कायरता का प्रदर्शन न करने वाला, अर्थात् डटकर एवं प्रसन्नतापूर्वक शत्रुओं से भिड़ने वाला वीर पुरुष किसी भी स्थान पर प्राण त्यागने पर अक्षयलोक को प्राप्त करता है।

संन्यस्तं ब्राह्मणं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः।
एष मे मण्डलं भित्वा परं स्थानं प्रयास्यति॥ 34॥

संन्यास ग्रहण करने और संन्यास-आश्रम-धर्म का निष्ठापूर्वक निर्वाह करते हुए प्राण त्यागने वाले ब्राह्मण के सूर्यलोक में पहुंचने पर सूर्य भी उसके सामने नत-मस्तक हो जाता है; क्योंकि उसे इस तथ्य की पक्की जानकारी होती है कि समर्थ ब्राह्मण तो उसके मण्डल को भेदकर ब्रह्मलोक में ही जाता है।

यस्तु भग्नेषु सैन्येषु विद्रवत्सु समन्ततः।
परित्राता यदा गच्छेत्स च क्रतुफलं लभेत्॥ 35॥

शत्रु के भय से उखड़ी-भागती तथा हतोत्साहित सेना को रोककर उसमें नव-स्फूर्ति और नव-साहस का सञ्चार करके उसे शत्रु से भिड़ाने और शत्रु पर विजय पाने में सफल रहने वाले वीर योद्धा को कष्टसाध्य यज्ञ—अश्वमेध आदि—को सम्पन्न करने का पुण्य-फल प्राप्त होता है।

यस्यच्छेदक्षतं गात्रं शर-मुद्गर-यष्टिभिः।
देवकन्यास्तु तं वीरं हरन्ति रमयन्ति च॥ 36॥

शत्रुओं के साथ युद्धरत जिस वीर एवं साहसी पुरुष का शरीर शत्रुओं के शरों, मुद्गरों और लाठियों के प्रहारों से क्षत-विक्षत हो जाता है, उस वीर पुरुष के युद्ध में प्राण त्यागने पर देवकन्याएं उसका वरण करने को तथा उसके साथ रमण करने को अपना परम सौभाग्य मानती हैं। ऐसे वीर पुरुष को स्वर्गलोक में सुरबालाएं अपने साथ ले जाती हैं और उसके साथ विहार करती हैं।

देवाङ्गनाः सहस्त्राणि शूरमायोधने हतम्।
त्वरमाणाः प्रधावन्ति 'मम भर्त्ता ममेति' च ॥ 37॥

शत्रुओं का सामना करते हुए तथा अपने अद्भुत शौर्य एवं साहस का प्रदर्शन करते हुए वीर पुरुष के युद्धभूमि में प्राण त्यागकर स्वर्ग जाने पर हज़ारों देवबालाएं—'यह मेरा भर्ता है, यह मेरा भर्ता है'—कहती हुई उसके वरण के लिए एक-दूसरे को पीछे धकेलती और आगे बढ़ती हुई उसकी कामना करती रहती हैं।

ये यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः, स्वर्गैषिणो यत्र यथैव यान्ति।
क्षणेन यान्त्येव हि तत्र वीराः, प्राणान्सुयुद्धेन परित्यजन्तः॥ 38॥

सैकड़ों बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञों को सम्पन्न करने से तथा अनेक वर्षों तक कठोर तप-साधना करने से भी जिस दिव्यलोक की प्राप्ति नहीं हो पाती, युद्ध में शत्रु से जूझते हुए प्राण त्यागने वाले वीर एवं साहसी योद्धा उस दिव्यलोक को सहज में ही प्राप्त कर लेते हैं।

अभिप्राय यह है कि युद्ध में शत्रु का सामना करते हुए प्राण त्यागना बहुत बड़े पुण्य का कार्य है। अतः वीर पुरुषों को प्राणों की रक्षा के लिए कभी पीठ नहीं दिखानी चाहिए।

गीता में भगवान् कृष्ण का भी स्पष्ट कथन है—

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।

युद्ध का अवसर तो सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही सुलभ होता है।

जितेन लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि सुराङ्गना।
क्षणध्वंसिनि कायेऽस्मिन् का चिन्ता मरणे रणे॥ 39॥

क्षत्रिय को युद्ध से तथा शत्रु का सामना करने से कभी घबराना नहीं चाहिए। उसे क्षणभंगुर शरीर की रक्षा के मोह में पड़कर अपने कर्तव्य-कर्म से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि जीवन के समान मृत्यु भी उसके लिए कल्याणकारी है। शत्रु को पराजित करने पर जहां उसे सम्पदा, यश और लोकमान्यता आदि प्राप्त होते हैं, वहां युद्ध में प्राण त्यागने पर स्वर्ग की अप्सराएं उसके स्वागत को, उसके साथ विहार को अपना सौभाग्य मानती हैं। अतः क्षत्रिय को नश्वर शरीर की रक्षा के लिए कभी अपने कर्तव्य-कर्म की उपेक्षा करने की नहीं सोचना चाहिए।

टिप्पणी—भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में इसी तथ्य को इन शब्दों में वाणी दी है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

अर्जुन! तुम्हारे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं—विजय की स्थिति में पृथ्वी का शासन है, तो पराजय (मृत्यु) की स्थिति में स्वर्ग का साम्राज्य है, फिर चिन्ता कैसी—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।

अर्जुन! उठो और साहसपूर्वक तथा आत्मविश्वास के साथ युद्ध करो। युद्ध न करने से तो दोनों—धर्म और कीर्ति—जाते रहेंगे। इसके अतिरिक्त पाप भी लगेगा।

ललाटदेशे रुधिरं स्रवच्च, यस्याहवे तु प्रविशेच्च वक्त्रम्।
तत्सोमपानेन किलास्य तुल्यं, सङ्ग्रामयज्ञे विधिवच्चदृष्टम्॥ 40॥

युद्ध में शत्रु के शस्त्रों के प्रहारों से मस्तक पर हुए घावों से बहते रक्त से अपने मुंह को रंगने वाला वीर क्षत्रिय मानो विधिपूर्वक सम्पन्न हुए यज्ञ के अन्त में पुरोहितों द्वारा प्रस्तुत सोमरस का पान करता है।

अभिप्राय यह है कि मस्तक से बहते रक्त के मुख में जाने को परम सौभाग्य का लक्षण समझना चाहिए। यह एक अत्यन्त सुखद स्थिति होती है। कृच्छ्र साध्य यज्ञ के सम्पन्न होने से मिलने वाले पुण्य-जैसा पुण्य युद्ध में रक्त बहाने से प्राप्त होता है।

वस्तुत: इस प्रकार के वर्णनों का उद्देश्य वीरता, उत्साह, साहस और बलिदान की प्रवृत्तियों को महिमामण्डित करना है।

अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातय:।
पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्याल्लभन्ति ते॥ 41॥

किसी अनाथ (आगे-पीछे किसी आत्मीय को न रखने वाला—लावारिस) ब्राह्मण के मर जाने पर उसके दाहकर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत शव को श्मशान घाट पर ले जाने वाले व्यक्ति उसके घर से चिता स्थान तक जितने पग चलते हैं, उसी क्रम से उन्हें विविध यज्ञों को सम्पन्न करने का पुण्य-लाभ प्राप्त होता है।

न तेषामशुभं किञ्चित्पापं वा शुभकर्मणाम्।
जलावगाहनात्तेषां सद्य: शौचं विधीयते॥ 42॥

अनाथ ब्राह्मण के अन्तिम संस्कार का दायित्व निभाने वाले परोपकारी महात्माओं को किसी प्रकार का कोई अशौच, अशुभ अथवा पाप आदि नहीं लगता। शव के दाहकर्म के उपरान्त स्नान करने मात्र से ही उनकी शुद्धि हो जाती है।

असगोत्रमबन्धुं च प्रेतीभूतं द्विजोत्तमम्।
वहित्वा दाहयित्वा च प्राणायामेन शुध्यति॥ 43॥

अनाथ ब्राह्मण के मर जाने पर उसके साथ किसी प्रकार की सगोत्रता अथवा बन्धुता का सम्बन्ध न रखने पर, केवल परोपकार की भावना से अथवा मान्यता के आधार पर उसे मुखाग्नि देने वाला तथा उसके और्ध्व-दैहिक कर्म करने वाला ब्राह्मण मात्र प्राणायाम करने से ही शुद्ध हो जाता है।

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति॥ 44॥

अपनी इच्छा से, अर्थात् सहज मानवीय आधार पर अपनी जाति के अथवा किसी दूसरी जाति के प्रेत (मृत प्राणी, शव) के पीछे जाने वाले व्यक्ति को आत्मशुद्धि के लिए जल से स्नान तथा अग्नि का स्पर्श करना चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को उस दिन केवल घृत का सेवन करना चाहिए।

क्षत्रियं मृतमज्ञानाद् ब्राह्मणो योऽनुगच्छति।
एकाहमशुचिर्भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति॥ 45॥

अनजाने क्षत्रिय के शव के पीछे चलने वाला ब्राह्मण दिन-रात अशुद्ध-अपवित्र रहता है और दूसरे दिन स्नान तथा पञ्चगव्य के सेवन के उपरान्त ही शुद्ध होता है।

शवं तद्वैश्यमज्ञानाद् ब्राह्मणो योऽनुगच्छति।
कृत्वा शौचं द्विरात्रं च प्राणायामान् षडाचरेत्॥ 46॥

इसी प्रकार अनजाने में वैश्य के शव के पीछे चलने वाला ब्राह्मण दो दिनों तक अशुद्ध बना रहता है, अर्थात् दो दिनों तक वह नित्य-नैमित्तिक कर्मों को निपटाने का अधिकारी नहीं रहता। दो दिनों के उपरान्त स्नान करने और छह प्राणायाम करने के उपरान्त वह शुद्ध होता है।

प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अनुगच्छेन्नीयमानं त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥ 47॥

अनजाने में शूद्र के शव के पीछे चलने वाला मूर्ख ब्राह्मण तीन दिनों तक अशौच-ग्रस्त रहता है और फिर तीन दिनों के उपरान्त स्नान, प्राणायाम तथा जप आदि से शुद्ध होता है।

त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति॥ 48॥

शूद्र के शव के पीछे जाने वाले अज्ञानी ब्राह्मण तीन दिनों तक अशुद्ध रहने के उपरान्त समुद्र में प्रविष्ट होती किसी नदी के किनारे जाकर स्नान करने से, सौ प्राणायाम करने से तथा पूरा दिन घृतभोजन करने से शुद्ध होता है।

ब्राह्मण के भ्रम में निम्न वर्ण के शव के पीछे जाने पर भी प्रायश्चित्त के विधान से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि जाति का ज्ञान होने पर तो ब्राह्मण को क्षत्रिय, वैश्य आदि के शव के पीछे कभी नहीं जाना चाहिए।

जान-बूझकर निम्न वर्ण के शव के पीछे जाने वाला ब्राह्मण तो महामूर्ख एवं पातकी कहलाता है। इसके लिए तो उसे बहुत बड़ा प्रायश्चित्त करना होता है।

विनिर्वर्त्य यदा शूद्रा उदकान्तमुपस्थिताः।
द्विजैस्तदानुगन्तव्या एष धर्मः सनातनः॥ 49॥

सभी शास्त्रों—धर्म-शास्त्र, समाज-शास्त्र तथा नीति-शास्त्र आदि—की यही व्यवस्था है कि ब्राह्मण को शव का दाह-संस्कार तथा तर्पण आदि करके लौटने तथा स्नान आदि से निवृत्त हो जाने पर क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि को सान्त्वना देने के लिए उनके घर जाना चाहिए।

तस्माद् द्विजो मृतं शूद्रं न स्पृशेन्न च दाहयेत्।
दृष्टे सूर्यावलोकेन शुद्धिरेषा पुरातनी॥ 50॥

ब्राह्मणों को कभी भूलकर भी शूद्र के शव को न तो छूना चाहिए और न ही उसका दाह-कर्म करना चाहिए। यहां तक कि ब्राह्मण के लिए शूद्र के शव का दर्शन तक नहीं करना चाहिए। यदि अनजाने ब्राह्मण की दृष्टि शूद्र के शव पर पड़ गयी, तो उसे सूर्य की ओर कुछ समय तक ताकते रहना चाहिए। इसी से उसकी शुद्धि हो जाती है—यही पुरातनकाल से प्रचलित रीति है।

॥ इति जनन-मरण-सूतिकाशुद्धि नामक तृतीय अध्याय॥

चौथा अध्याय

उद्‌बन्धनादिमृतशुद्धि

अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात् स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते॥ 1॥

आगे दिये जा रहे चार कारणों से आत्महत्या करने वाले पुरुष अथवा स्त्री की निम्नोक्त रूप से दुर्गति होती है—

1. अपने को मनस्वी समझने का दम्भ पालने के कारण अपनी मान-हानि को सहन न कर पाना,

2. अपने क्रोध पर नियन्त्रण पाने में असमर्थ होना तथा क्रोधावेश में विवेकशून्य हो जाना,

3. किसी के प्रति उत्पन्न अनुराग की अपूर्ति को सहन न कर पाने, अर्थात् प्रेमी का सान्निध्य प्राप्त किये बिना न जी पाना तथा

4. अपने अपराध अथवा शत्रु की उग्रता से आतंकित एवं भयग्रस्त होना।

पूयशोणितसम्पूर्णे त्वन्धे तमसि मज्जति।
षष्ठिं वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते॥ 2॥

किसी भी कारणवश आत्महत्या करने वाले स्त्री-पुरुष पीव और रक्त से परिपूर्ण अन्धतामिस्र नामक नरक में जाते हैं तथा साठ हज़ार वर्षों तक वहां के दुर्गन्धपूर्ण एवं दूषित वातावरण में घुट-घुटकर जीने को विवश होते हैं।

नाशौचं नोदकं नाग्निं नाश्रुपातं च कारयेत्।
वोढारोऽग्निप्रदातारः पाशच्छेदकरास्तथा॥ 3॥
तप्तकृच्छ्रेण शुध्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः।
गोभिर्हतं तथोद्बद्धं ब्राह्मणेन तु घातितम्॥ 4॥

तीन प्रकार—1. गायों द्वारा तथा 2. ब्राह्मणों द्वारा वध किये गये और

3. आत्महत्या करने वाले—से देह-त्याग करने वालों का न तो अशौच लगता है, न उनका दाहकर्म करना चाहिए और न ही श्राद्ध-तर्पण आदि करना चाहिए। यहां तक कि ऐसे व्यक्तियों के निधन पर सम्बन्धियों तथा इष्ट-मित्रों को रुदन भी नहीं करना चाहिए। वस्तुतः गाय-ब्राह्मण द्वारा मारे जाने वालों तथा आत्महत्या करने वालों को तो अत्यन्त नीच और पतित ही समझना चाहिए। ब्राह्मण अकारण तो किसी का वध नहीं करते तथा गायों को भी तो कहीं से प्रेरणा मिलती है। इसके अतिरिक्त आत्महत्या का निर्णय भी निराशा, असफलता और कुण्ठा की पराकाष्ठा की स्थिति है।

प्रजापति के अनुसार—इन तीनों—गोहत, विप्रहत तथा आत्महत—को बन्धनमुक्त करने वाले, कन्धा देकर श्मशानघाट तक ले जाने तथा इनका दाहकर्म करने वाले—तप्तकृच्छ्र व्रत के अनुष्ठान से शुद्ध होते हैं।

संस्पृशन्ति तु ये विप्रा वोढारश्चाग्निदाश्च ये।
अन्ये ये चानुगन्तारः पाशच्छेदकराश्च ये॥ 5॥
तप्तकृच्छ्रेण शुद्धास्ते कुर्युर्ब्राह्मणभोजनम्।
अनडुत्सहितां गां च दद्युर्विप्राय दक्षिणाम्॥ 6॥

उपर्युक्त तीनों प्रकार—गोहत, विप्रहत तथा आत्महत—के व्यक्तियों के शव को छूने वाले, मृत व्यक्ति के गले के बन्धन काटने वाले, शव को कन्धा देने वाले, शव के पीछे चलने वाले तथा शव का दाहकर्म करने वाले, तप्तकृच्छ्र व्रत करने, ब्राह्मण को भोजन कराने तथा उसे वृषभ सहित गाय को दक्षिणा में दान करने के उपरान्त ही शुद्ध होते हैं।

टिप्पणी—यहां विचारणीय प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि तीनों प्रकार के पापियों का दाहकर्म करना ही पाप है, तो फिर विकल्प क्या है ? क्या उनके शव को निर्जन वन में सड़ने-गलने तथा वन्य पशु-पक्षियों का आहार बनने के लिए फेंक देना चाहिए। आचार्यों ने इस प्रकार की किसी व्यवस्था का कोई निर्देश नहीं किया। हां, तीनों प्रकार के पापियों के औध्र्वदैहिक कार्य करने वालों के प्रायश्चित्त का विधान करके इस पाप की गहराई का संकेत अवश्य दिया है।

त्र्यहमुष्णं पिबेद्वारि त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत्।
त्र्यहमुष्णं पिबेत्सर्पिर्वायुभक्षो दिनत्रयम्॥ 7॥

तप्तकृच्छ्र व्रत का परिचय इस प्रकार है—बारह दिन के इस अनुष्ठान में प्रथम दिन केवल उष्ण जल पीकर, अगले तीन दिन केवल उष्ण दुग्ध पीकर, अगले तीन

दिन (सातवां से नौवां) केवल उष्ण घृत पीकर और फिर अन्तिम तीन दिन कुछ भी ग्रहण किये बिना बिताने होते हैं।

टिप्पणी—कहने की आवश्यकता नहीं है कि बारह दिनों का यह व्रत बड़ी ही कठिन साधना है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह नितान्त हानिकारक है। बारह दिनों तक अन्न, चावल, साग, फल आदि न लेना और फिर अन्तिम तीन दिनों तक जल भी ग्रहण न करना व्यक्ति पर अत्याचार करना है।

यह सर्वजनविदित तथ्य है कि उष्ण जल के पीने से प्यास बढ़ती है और प्यास को न बुझाने से शरीर एवं स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है, परन्तु यहां तो नौ दिनों में सीमित मात्रा में भी उष्ण जल के लेने का निषेध है।

हमें तो सन्देह है कि कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के व्रत को सत्यता से कर भी पाता होगा या फिर किसी अवहेलित व्यक्ति के दाहकर्म को इतना बड़ा पाप मानने को तत्पर होता होगा।

षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत्।
पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते॥ 8॥

आश्चर्य है कि तप्तकृच्छ्र व्रत के अन्तर्गत तीन-तीन दिनों तक लिये जाने वाले उष्ण जल, दुग्ध और घृत की भी मात्रा निश्चित कर दी गयी है, अर्थात् यहां भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कुछ (न्यूनाधिक) लेने को स्वतन्त्र नहीं है। निर्धारित मात्रा इस प्रकार से है—जल चौबीस तोला (लगभग 300 ग्राम), दुग्ध बारह तोले (लगभग डेढ़ सौ ग्राम) और घृत चार तोला (लगभग पचास ग्राम)।

टिप्पणी—प्राचीनकाल में माप-तौल का विधान कुछ इस प्रकार था—गेहूं के चार दानों का तौल एक रत्ती (वृक्ष पर उगने वला लाल-काले रंग का गोल आकार का फल) कहलाता था, आठ रत्तियों से एक माश (मासा), बारह मासों से एक तोला, चार तोलों से एक पल तथा पांच तोलों की एक छटांक, चार छटांकों का एक पाव तथा सोलह छटांकों (चार पावों) का एक सेर और चालीस सेरों का एक मन और अट्ठाईस मन का एक टन बनता है। दशमलव पद्धति में तोलों के नाप ग्राम व किलो के रूप में प्रचलित हैं।

इतनी कम मात्रा में जल, दुग्ध और घृत का लेना तो किसी प्रकार अपने को जीवित रखने का उपक्रम ही कहलायेगा।

यो वै समाचरेद्विप्रः पतितादिष्वकामतः।
पञ्चाहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा॥ 9॥

मासार्द्धं मासमेकं वा मासद्वयमथापि वा।
अब्दार्द्धमब्दमेकं वा तदूर्ध्वं चैव तत्समः ॥ 10 ॥

ब्राह्मण के अनिच्छापूर्वक—किसी विवशता के कारण—पांच दिन, दस दिन, बारह दिन, पन्द्रह दिन, एक मास, दो मास, छह मास तथा एक वर्ष तक पतित व्यक्तियों के साथ रहने का प्रायश्चित्त निम्नोक्त रूप से है। एक वर्ष से अधिक समय तक पतितों के साथ रहने वाला (कैसी भी विवशता क्यों न हो?) ब्राह्मण तो पतित हो जाता है। उसके उद्धार का कोई उपाय अथवा प्रायश्चित्त नहीं है।

टिप्पणी—अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को पतितों के संग रहने से यथासम्भव बचना चाहिए; क्योंकि संग का प्रभाव तो निश्चित रूप से ही पड़ता है। अधिक समय तक पतितों के साथ रहने वाला ब्राह्मण उनकी बुराइयों को थोड़ा-बहुत ग्रहण किये बिना तो रह ही नहीं सकता। इसी आधार पर महाभारत में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को सचेत करते हुए कहा है—

हीयते हि मतिस्तात! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्।

त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमाचरेत्।
तृतीये चैव पक्षे तु कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्॥ 11।
चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पराकः पञ्चमे मतः।
कुर्याच्चान्द्रायणं षष्ठे सप्तमे त्वैन्दवद्वयम्॥ 12॥
शुद्धियर्थमष्टमे चैव षणमासान् कृच्छ्रमाचरेत्।
पक्षसङ्ख्याप्रमाणेन सुवर्णान्यपि दक्षिणा॥ 13॥

उपर्युक्त आठों अवधियों—पांच, दस, बारह, पन्द्रह, दिन और एक, दो, छह तथा बारह मास—में पतितों के साथ रहने वाले ब्राह्मण का प्रायश्चित्त निम्नोक्त रूप से है—

1. पांच दिनों के दुर्जनों (पतितों) के साथ के लिए प्रायश्चित्त के रूप में तीन रातों तक उपवास करना चाहिए।

2. दस दिनों तक पतितों के संग के दोष की निवृत्ति के लिए ब्राह्मण को कृच्छ्र व्रत करना चाहिए।

3.बारह दिनों तक किये पतित-संग-दोषनिवारण के लिए ब्राह्मण को 'कृच्छ्रसन्तापन' व्रत करना चाहिए।

4. पन्द्रह दिनों तक अनिच्छापूर्वक पतितों का संग करने पर शुद्धि के इच्छुक ब्राह्मण को प्रायश्चित्त के रूप में दशरात्र व्रत करना चाहिए।

5. एक महीने के संग का प्रायश्चित्त पराक व्रत है।

6. दो महीनों तक पतितों के संग का प्रायश्चित्त चान्द्रायण व्रत का अनुष्ठान है।

7. छह मास तक पतितों का संग करने वाले ब्राह्मण को दो ऐन्दव व्रत करने चाहिए।

8. एक वर्ष तक पतितों के संग रहने वाले ब्राह्मण को आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में छह मास तक कृच्छ्र व्रत करना चाहिए।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आठों प्रकार की अवधियों में पतित-संग के दोष से निवृत्ति के अन्तर्गत किये जाने वाले प्रायश्चित्त में ब्राह्मण को क्रमश: एक से आठ तक स्वर्ण मुद्राएं दक्षिणा के रूप में दी जानी चाहिए, अर्थात् पांच दिनों के पतित संग के लिए एक स्वर्ण मुद्रा, दस दिनों के संग दोष की निवृत्ति के प्रायश्चित्त में दो मुद्राएं तथा शेष इसी प्रकार देनी चाहिए। तभी प्रायश्चित्त पूर्णत: सफल माना जाता है।

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्त्तारं नोपसर्पति।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥ 14 ॥

पतिसंग न करने वाली ऋतुस्नाता स्त्री, मरने पर नरकगामिनी होती है तथा जन्म-जन्मान्तर में वैधव्य के दु:ख को झेलती है।

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ 15 ॥

इसी प्रकार समीप होने पर भी अपनी ऋतुस्नाता पत्नी को रतिदान न करने वाला पुरुष भ्रूणहत्या से लगने वाले पाप का भागी होता है—इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं।

टिप्पणी—भारतीय धर्म में पति-पत्नी का सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति के लिए ही स्वीकृत है। ऋतुस्नाता स्त्री द्वारा गर्भधारण की सम्भावना बढ़ जाती है। अत: इस अवसर पर पति-पत्नी का समागम अपेक्षित रहता है। इस अवसर को गंवाने वाले स्त्री अथवा पुरुष को समान रूप से दोषी माना जाता है। इसी सन्दर्भ में दोनों—पति-पत्नी—के लिए उपर्युक्त व्यवस्था है।

दरिद्रं व्याधितं धूर्तं भर्तारं याऽवमन्यते।
सा शुनी जायते मृत्वा सूकरी च पुनः पुनः ॥ 16 ॥

अपने दरिद्र, रोगी अथवा मूर्ख (अशिक्षित) पति का भी अपमान करने वाली स्त्री जन्म-जन्मान्तर तक कुतिया एवं शूकरी की योनि में बार बार जन्म लेती एवं दु:ख भोगती है।

टिप्पणी—'मूर्ख' के स्थान पर 'धूर्त' पाठ भी मिलता है। धूर्तता दुर्गुण है और दोष कभी ग्राह्य नहीं होता, परन्तु धर्म और समाज में सदैव पुरुष की प्रधानता रही है और पुरुष ने सदैव अपने पक्ष को ऊपर रखा है। यहां भी यही स्थिति है। स्त्री को तो पुरुष की दासता को सहना ही है।

पत्यौ जीवति या नारी उपोष्य व्रतमाचरेत्।
आयुष्यं हतरे भर्त्तुः सा नारी नरकं व्रजेत्॥ 17॥

पति के जीवित होने पर उसकी सेवा-शुश्रूषा की उपेक्षा करके व्रतोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाली स्त्री पति की आयु को क्षीण करती है, अर्थात् अपने को विधवा बनाने का उपक्रम करती है तथा मरणोपरान्त नरक को जाती है।

टिप्पणी—शास्त्रकारों ने स्त्री के लिए पति को परमेश्वर और पति की सेवा को ही भक्ति-पूजा आदि का रूप दिया है। सभी के लिए पति की सेवा को ही व्रत, पूजा, यज्ञ तथा धर्म-अनुष्ठान आदि माना है। यह तो निश्चित ही है कि व्रत-उपवास आदि करने वाली स्त्री पति की सेवा के प्रति पूर्णतः समर्पित नहीं हो सकेगी। इससे पति की सेवा में बाधा का पड़ना तो निश्चित ही है, इसीलिए कदाचित् ऐसा विधान किया गया है।

अपृष्ट्वा चैव भर्त्तारं या नारी कुरुते व्रतम्।
सर्वं तद्राक्षसान् गच्छेदित्येवं मनुरब्रवीत्। 18॥

महाराज मनु का स्पष्ट कथन है कि पति की अनुमति के बिना व्रत-अनुष्ठान करने वाली स्त्री के धर्म-कर्म आदि का पुण्यफल उसे न मिलकर राक्षसों को मिलता है, अर्थात् स्त्री अपने धर्म-कर्म से राक्षसों के अभ्युदय में सहायक बनती है। स्पष्ट है कि स्त्री को पति-सेवा को ही महत्त्व देना चाहिए, पति-सेवा को ही भक्ति-पूजा मानकर सन्तुष्ट रहना चाहिए।

बान्धवानां सजातीनां दुर्वृत्तं कुरुते तु या।
गर्भपातं च या कुर्यान्न तां सम्भाषयेत् क्वचित्॥ 19॥

अपनी जाति और अपने कुटुम्ब के लोगों के साथ सद्व्यवहार न करने वाली तथा औषध आदि के द्वारा गर्भपात करने वाली स्त्री का बहिष्कार करना ही धर्म है।

ऐसी स्त्री से बोलचाल रखना भी अनुचित है। सत्य तो यह है कि शास्त्रों में ऐसी पापिनी—परिवारजनों के प्रति दुर्भावना रखने वाली तथा गर्भपात करने वाली—स्त्री के लिए तो किसी प्रायश्चित्त का कोई विधान ही नहीं है। ऐसी स्त्री से तो किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए।

यत्पापं ब्रह्महत्यायां द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायिश्चत्तं न तस्याः स्यात्तस्यास्त्यागो विधीयते॥ 20॥

सत्य तो यह है कि गर्भपात का पाप ब्रह्महत्या के पाप से भी दुगुना होता है। अतः गर्भपात करने वाली स्त्री को तो त्यागना ही उचित है—इसमें किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं। गर्भपात-जैसे पाप का तो शास्त्रों में कोई प्रायश्चित्त भी नहीं।

टिप्पणी—स्त्री के स्त्रीत्व की सफलता उसके मातृत्व में है। शास्त्र गर्भधारण न कर सकने वाली स्त्री के पति को दूसरे विवाह की अनुमति देता है। कुल-परम्परा को बनाये रखने के लिए ही स्त्री-पुरुष का विवाह होता है। सन्तान उत्पन्न करना ही पितृऋण से उऋण होना माना जाता है। इस सन्दर्भ में गर्भपात करने वाली स्त्री को गर्हित एवं अग्राह्य मानना सर्वथा उचित ही है। यह तो अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारने-जैसा दुष्कृत्य है।

न कार्यमावसथ्येन नाग्निहोत्रेण वा पुनः।
स भवेत् कर्मचाण्डालो यस्तु धर्मराङ्मुखः॥ 21॥

धर्म से विमुख, अर्थात् शास्त्रमर्यादा का निर्वाह न करने वाले व्यक्ति को अग्निहोत्र, अर्थात् नित्यकर्म के रूप में किये जाने वाले यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान का तथा स्मार्त-कर्म—सन्ध्या वन्दन आदि—को सम्पन्न करने का तो कोई अधिकार ही नहीं है; क्योंकि ऐसा व्यक्ति तो कर्म से चाण्डाल है और चाण्डाल को कर्मकाण्ड का कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को सर्वप्रथम धर्ममर्यादा का पालन करना चाहिए, तभी किये गये शुभकर्म फलित होते हैं। एक ओर धर्म की उपेक्षा करना और दूसरी ओर धर्म-कृत्यों के पालन में प्रवृत्त होना विचित्र स्थिति है। इस सम्बन्ध में महाभारत की सुप्रसिद्ध उक्ति है—**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।** धर्म अपनी रक्षा करने वाले का रक्षक और अपनी हत्या करने वाले का भक्षक बन जाता है।

ओघ-वाताऽऽहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति।
क्षेत्री तल्लभते बीजं न बीजी भागमर्हति॥ 22॥

जल अथवा वायु के वेग से एक खेत में डाले गये बीज के बहकर अथवा उड़कर दूसरे के खेत में पहुंच जाने और उस बीज के उगने से उपज पर खेत के स्वामी का अधिकार होता है, बीज के स्वामी का कोई अधिकार नहीं होता।

वस्तुत: बीज पर स्वामी का नाम तो लिखा ही नहीं होता। फिर केवल बीज के डालने से ही उपज नहीं हो जाती। उसे खाद, जल और धूप आदि से सुरक्षित भी रखना पड़ता है। बीज को फूलने-फलने की सुविधा भी तो क्षेत्र का स्वामी ही जुटाता है। अत: बीज के स्वामी का पूरी उपज पर अथवा उसके किसी अंश पर तो अधिकार माना ही नहीं जा सकता; क्योंकि बीज को अपने क्षेत्र से बाहर न जाने देने का दायित्व भी तो स्वयं, बीज के स्वामी का होता है। जब उसने अपने दायित्व को निभाया ही नहीं, बीज को अपने खेत से बाहर न जाने देने में समर्थ नहीं हुआ, तो वह उपज पर अपना अधिकार कैसे जता सकता है ?

तद्वत्परस्त्रियाः पुत्रौ द्वौ स्मृतौ कुण्ड-गोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यात् मृते भर्तरि गोलकः ॥ 23 ॥

अपने पति के जीवित रहते पर-पुरुष (उपपति) से गर्भधारण करने वाली स्त्री से उत्पन्न पुत्र **कुण्ड** और अपने पति के मर जाने पर उपपति (पर-पुरुष) के वीर्य से गर्भधारण करने वाली स्त्री से उत्पन्न होने वाला पुत्र **गोलक** कहलाता है।

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः।
दद्यान्माता पिता वाऽपि स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ 24 ॥

उपर्युक्त दो प्रकार के पुत्रों के अतिरिक्त चार प्रकार के अन्य पुत्र इस प्रकार हैं—1. **औरस**—अपने ही वीर्य से अपने वर्ण की स्त्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्र, 2. **क्षेत्रज**—स्वयं के असमर्थ होने पर दूसरे पुरुष के वीर्य से अपनी विवाहिता पत्नी के उदर से उत्पन्न पुत्र, 3. **दत्त** अथवा **दत्तक**—माता-पिता द्वारा किसी विवशता के कारण धन आदि लेकर, अथवा अपनी इच्छा एवं प्रसन्नतावश अपने पुत्र को किसी अन्य—सम्बन्धी, मित्र, आदि—को दे देना तथा 4. **कृत्रिम**—किसी अनाथ, असहाय अथवा परित्यक्त बालक को पुत्र-रूप में अपना लेना।

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ 25 ॥

निम्नोक्त पांचों नरकगामी होते हैं—

1. ज्येष्ठ भ्राता के विवाहित होने से पूर्व ही विवाह करने वाला कनिष्ठ भ्राता,

2. अनुज के विवाह की अनुमति देने वाला अथवा मूकदर्शक बना रहने वाला अग्रज,

3. अविवाहित ज्येष्ठ भ्राता के होते कनिष्ठ भ्राता से विवाह करने वाली कन्या,

4. उपर्युक्त स्थिति में अपनी कन्या को देने के लिए सहमत होने वाला कन्या का पिता तथा

5. ऐसी कन्या का विवाह कराने वाला पुरोहित।

अभिप्राय यह है कि भाइयों का वरीयता के आधार पर ही विवाह होना उचित है। प्राय: देखा गया है कि यदि बड़े भाई से पूर्व छोटा भाई विवाह कर लेता है, तो लोग इसे सामान्य स्थिति के रूप में कभी स्वीकार नहीं करते। वे बड़े भाई में छिद्रान्वेषण करने लगते हैं। वे उसमें असमर्थता, अयोग्यता-जैसे दोष देखने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह या तो कुंआरा रह जाता है और या फिर अपने से निम्न परिवार की कन्या से सम्बन्ध जोड़ने को प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार उसे समझौते का मार्ग अपनाना पड़ता है। अत: विवाह-योजना में आयु के क्रम को समुचित महत्त्व देना ही सर्वथा उचित एवं उपयुक्त है।

यहां ज्येष्ठ की उपेक्षा करके अपना विवाह रचाने वाले छोटे भाई के साथ ही स्वयं ज्येष्ठ भ्राता को भी समान रूप से दोषी मानने का कारण स्पष्ट है। ज्येष्ठ भ्राता के विवाह के योग्य न होने अथवा विवाह में रुचि न होने की बात अलग है, अन्यथा उसे इस अनौचित्य के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए, अपने अनुज को प्रतीक्षा करने के लिए समझाना-बुझाना चाहिए, परिवारजनों को अपने पक्ष में करना चाहिए। ऐसा न करने वाला अग्रज या तो मूर्ख कहलायेगा या फिर सन्त, अन्यथा अपनी उपेक्षा को भला कौन स्वीकार करता है?

द्वौ कृच्छ्रौ परिवित्तेस्तु कन्यायाः कृच्छ्र एव च।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ दातुस्तु होता चान्द्रायणं चरेत्। 26॥

उपर्युक्त पांचों को अपराधी बताते हुए महर्षि पराशर उनके पाप के प्रायश्चित्त का विधान करते हुए कहते हैं—

परिवित्ति—विवाह करने वाले भाई के बड़े भाई को दो कृच्छ्र व्रत करने चाहिए। बड़े भाई की उपेक्षा करने वाले छोटे भाई की विवाहिता स्त्री को अपने पाप के प्रायश्चित्त के लिए एक और ऐसे वर—बड़े भाई के विवाहित होने से पूर्व विवाह करने वाले छोटे भाई—को अपनी कन्या देने वाले कन्या के पिता-दादा आदि को दो कृच्छ्र व्रत तथा अतिकृच्छ्र व्रत और विवाह कराने वाले पुरोहित को चान्द्रायण व्रत करना चाहिए।

टिप्पणी—यहां परिवेत्ता—अग्रज के विवाह की प्रतीक्षा किये बिना उससे पूर्व विवाह करने वाले छोटे भाई—के लिए किसी प्रायश्चित्त का उल्लेख न होना आश्चर्य का ही विषय है।

कुब्ज-वामन-षण्ढेषु गद्गदेषु जडेषु च।
जात्यन्धे बधिरे मूके न दोषः परिविन्दतः॥ 27॥

स्मृतिकार कतिपय निम्नोक्त स्थितियों में अग्रज के विवाह से पूर्व कनिष्ठ भ्राता को विवाह की अनुमति देते हुए लिखते हैं—बड़े भाई के **कुबड़ा, बौना** (सामान्य से बहुत छोटा क़द) **नपुंसक, तोतला** (स्पष्ट तथा सपाट वाणी न बोल पाना), **जड़** (निपट मूर्ख) **जन्मान्ध, बधिर** अथवा **मूक** होने पर अनुज उसके विवाहित होने से पूर्व विवाह करने पर दोष का भागी नहीं होता; क्योंकि सामान्यतः ऐसे विकलांग व्यक्ति का विवाह पहले तो हो नहीं पाता, फिर यदि होता भी है, तो बड़ी कठिनाई से होता है। अतः ऐसे विकलांग भाई के विवाह के लिए रुके रहने में कोई औचित्य नहीं।

पितृव्यपुत्रः सापत्नः परनारीसुतस्तथा।
दाराऽग्निहोत्रसंयोगे न दोषः परिवेदने॥ 28॥

विकलांग अग्रज के विवाह की चिन्ता किये बिना सहोदरों के समान, चचेरे-मौसेरे भाइयों, दत्तक रूप में आये भाइयों, सौतेले भाइयों तथा दूसरों की स्त्रियों से (पिता के वीर्य से) उत्पन्न भाइयों को भी अपना विवाह तथा अग्निहोत्र करने में कोई दोष नहीं। वे भी अपनी इच्छा-सुविधा से अपने विवाह के लिए स्वतन्त्र हैं।

ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेदाधानं नैव कारयेत्।
अनुज्ञातस्तु कुर्वीत शङ्खस्य वचनं यथा। 29॥

महर्षि शंख के अनुसार—ज्येष्ठ भ्राता के विवाह तथा अग्निहोत्र आदि के प्रति गम्भीर (इच्छुक) न होने पर कनिष्ठ भ्राता उसकी अनुमति लेकर अग्निहोत्र (यज्ञो-पवीत संस्कार) तथा विवाह आदि कर सकता है। इसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं है।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ 30॥

निम्नोक्त पांच असामान्य एवं विपत्ति-जैसी असामान्य स्थितियों में विवाहित स्त्री को दूसरा विवाह करने पर कोई दोष नहीं लगता—

1. पति का पता-ठिकाना न मिलना, अर्थात् घर छोड़कर गये पति द्वारा पर्याप्त समय (वर्षों) तक पत्नी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना, यानी अपने विषय में कोई जानकारी न देना,

2. पति का मर जाना, अर्थात् विवाह के शीघ्र ही उपरान्त, स्त्री के सन्तानवती हुए बिना पति का चल बसना,

3. पति का संन्यास ग्रहण कर लेना, अर्थात् गृहस्थ के दायित्व का निर्वाह न करना, पत्नी को सम्भोग तथा सन्तान-सुख से वञ्चित रखना,

4. पति का नपुंसक, अर्थात् विवाह कर लेने पर भी रतिभोग करने में असमर्थ सिद्ध होना तथा

5. पति का पतित—आचारभ्रष्ट होने के कारण जाति से बहिष्कृत हो जाना, समाज में अपमानित—होना।

उपर्युक्त परिस्थितियों में सद्य:विवाहिता स्त्री को पुन: विवाह करने में कुछ भी अनौचित्य नहीं। ऐसी विवाहिता को तो एक प्रकार से कुमारी (अक्षतयोनि) ही समझना चाहिए।

मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिण: ॥ 31 ॥

पति के मर जाने पर पुनर्विवाह न करके संयम-नियम में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली स्त्री मरने पर ब्रह्मचारियों के समान सीधे स्वर्ग में जाती है और अनन्तकाल तक वहां के सुखों को भोगती है।

तिस्र: कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि लोमानि मानुष।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति ॥ 32 ॥

अपने पति के दिवंगत होने पर उसी के साथ सती होने वाली, अर्थात् जीवित ही पति की चिता में जल जाने वाली पतिव्रता स्त्री शरीर के रोमों की संख्या के अनुपात में साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक स्वर्ग में वास करती है और सुखों को भोगती है।

टिप्पणी—विधवा-विवाह को निरुत्साहित करने तथा सती-प्रथा को उत्साहित करने के लिए कैसी सुन्दर एवं मोहक व्यूह-रचना की गयी है, यह देखते ही बनता है! स्त्री को मोहित करने के लिए कैसा जाल बिछाया गया है? स्त्री (पत्नी) के मरने पर पुरुष (पति) के लिए तो दूसरा विवाह करना शास्त्रसम्मत है, परन्तु पति के मरने पर बेचारी पत्नी को जीवित रहने का भी अधिकार नहीं। उसे पति के शव

के साथ जल मरना है और इसे उसका त्याग बताकर उसे इससे महिमा-मण्डित किया जाता है। कैसा भेदभाव और कैसी विडम्बना है ? फिर भी हमारे ऋषि महान् हैं, आदर्श हैं, अनुपम एवं अद्वितीय हैं!

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
एवं स्त्रीपतिमुद्धृत्य तेनैव सह मोदते॥ 33॥

जिस प्रकार सपेरा—सर्पों को पकड़ने में कुशल—अपने कौशल से बिल में घुसे सांपों को भी बाहर निकालने में और उन्हें अपने वश में करने में सफल-समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने त्याग और बलिदान से दुर्दशाग्रस्त अपने पति का भी उद्धार करने में समर्थ हो जाती है और फिर उसके साथ अनन्तकाल तक स्वर्ग के अक्षय सुखों को भोगती है।

टिप्पणी—पुरुष के कल्याण के लिए भी स्त्री को 'बलि का बकरा' बनना पड़ता है, फिर भी स्त्री नीच है, पुरुष के पतन का कारण है। आदि शंकराचार्य का प्रस्तुत कथन दर्शनीय है—

प्रश्न है—नरकस्य द्वारम् किम् ?

उत्तर है—नारी।

यहां इसी नारी को पुरुष की उद्धारिका बताया गया है। ऋषियों के कथन में भी कैसी परस्पर विरोधी भावना देखने को मिलती है!

॥ इति उद्बन्धनादिमृतशुद्धि नामक चतुर्थ अध्याय॥

पांचवां अध्याय

स्नानादिशुद्धि

वृक-श्वान-शृगालाद्यैर्दष्टो यतु द्विजोत्तमः।
स्नात्वा जपेत्स गायत्रीं पवित्रां वेदमातरम्॥ 1॥

ब्राह्मण को भेड़िया, कुत्ता और गीदड़-जैसे क्षुद्र जन्तुओं द्वारा काटे जाने पर शुद्धि के लिए स्नान और वेदमाता गायत्री का जाप करना चाहिए।

गवां शृङ्गोदकैः स्नानं महानद्योस्तु सङ्गमे।
समुद्रदर्शनाद्वापि शुना दष्टः शुचिर्भवेत्॥ 2॥

कुत्ते आदि द्वारा काटा गया ब्राह्मण, गायों के सींगों से छुए जल से अथवा दो-तीन महानदियों के संगम-स्थल के जल से स्नान करने पर अथवा समुद्र के दर्शन मात्र से शुद्ध हो जाता है।

वेद-विद्या-व्रतस्नातः शुना दष्टो द्विजो यदि।
स हिरण्योदकैः स्नात्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति॥ 3॥

वेद-विद्या में पारंगत तथा चौदह विद्याओं में निष्णात तथा अनेक उत्तमोत्तम व्रतों का अनुष्ठाता ब्राह्मण किसी कुत्ते आदि द्वारा काटे जाने पर स्वर्ण से छुए जल से स्नान करते ही तत्काल शुद्ध हो जाता है।

टिप्पणी—चार वेद, छह शास्त्र, इतिहास (महाभारत), पुराण, गाथा तथा नाराशंसी—ये चौदह विद्याएं—अध्ययनीय ग्रन्थ—कहलाते हैं। प्राचीनकाल में इन चौदह विद्याओं के ज्ञाता विद्वान् को अत्यन्त आदर-सम्मान दिया जाता था।

सव्रतस्तु शुना दष्टो यस्त्रिरात्रमुपावसेत्।
घृतं कुशोदकं पीत्वा व्रतशेषं समापयेत्॥ 4॥

व्रत को सम्पन्न करने में प्रवृत्त ब्राह्मण के किसी कुत्ते आदि द्वारा काटे जाने

पर उसे तीन दिनों तक उपवास करना चाहिए। घी तथा कुशों के जल पर निर्भर रहना चाहिए और फिर तीन दिनों के प्रायश्चित्त के उपरान्त शुद्ध हो जाने पर फिर से उस व्रत को पूरा करना चाहिए।

अव्रतः सव्रतो वाऽपि शुना दष्टो भवेद् द्विजः।
प्रणिपत्य भवेत्पूतो विप्रैश्चक्षुर्निरीक्षितः॥ 5॥

व्रत-साधन करने में प्रवृत्त अथवा अप्रवृत्त (प्रवृत्त होने का इच्छुक) ब्राह्मण के कुत्ते आदि द्वारा काटे जाने पर उसके द्वारा ब्राह्मणों को प्रणाम (दण्डवत्) करने पर और ब्राह्मणों द्वारा उस पर दृष्टिपात करने पर वह तत्काल शुद्ध हो जाता है।

शुना घ्रातावलीढस्य नखैर्विलिखितस्य च।
अद्भिः प्रक्षालनाच्छुद्धिरग्निना चोपचूलनम्॥ 6॥

कुत्ते द्वारा सूंघा, चाटा अथवा नखों से रौंदा, घसीटा, खसोटा पदार्थ जल से धोने तथा आग से सेकने पर शुद्ध हो जाता है। शुद्ध किये गये पदार्थ के सेवन में कोई दोष नहीं लगता।

शुना तु ब्राह्मणी दष्टा जम्बुकेन वृकेण वा।
उदितं सोमनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत्॥ 7॥

कुत्ते, गीदड़ अथवा भेड़िये आदि द्वारा काटे जाने पर ब्राह्मणी उदय होते हुए चन्द्रमा का अथवा नक्षत्रों का दर्शन करने मात्र से ही शुद्ध हो जाती है।

कृष्णपक्षे यदा सोमो न दृश्येत कदाचन।
यां दिशं व्रजते सोमस्तां दिशं वाऽवलोकयेत्॥ 8॥

कृष्णपक्ष में कुत्ते, गीदड़ अथवा भेड़िये आदि द्वारा काटी गयी ब्राह्मणी को अपनी शुद्धि के लिए चन्द्रमा के जाने की सम्भावित दिशा की ओर देखना चाहिए। इतने से ही वह पूर्णतः दोष से निवृत्त हो जाती है।

असद्ब्राह्मणके ग्रामे शुना दष्टो द्विजोत्तमः।
वृषं प्रदक्षिणीकृत्य सद्यः स्नात्वा शुचिर्भवेत्॥ 9॥

ब्राह्मण-विहीन गांव में कुत्ते-गीदड़ आदि द्वारा काटे गये ब्राह्मण को आत्मशुद्धि के लिए बैल की प्रदक्षिणा और शुद्ध-स्वच्छ जल से स्नान करना चाहिए। इससे अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है, अर्थात् व्यक्ति तत्काल शुद्ध हो जाता है।

चाण्डालेन श्वपाकेन गोभिर्विप्रैर्हतो यदि।
आहिताग्निर्मृतो विप्रो विषेणात्महतो यदि ॥ 10 ॥
दहेत्तं ब्राह्मणं विप्रो लोकाग्नौ मन्त्रवर्जितम्।
स्पृष्ट्वा वोढ्वा च दग्ध्वा च सपिण्डेषु च सर्वथा ॥ 11 ॥
प्राजापत्यं चरेत्पश्चाद्विप्राणामनुशासनात्।
दग्ध्वास्थीनि पुनर्गृह्य क्षीरैः प्रक्षालयेद्द्विजः ॥ 12 ॥

निम्नोक्त पांच प्रकार से प्राण त्यागने वाले अग्निहोत्री ब्राह्मण के शव का उसके प्रति आत्मीयता रखने वाले सपिण्डियों द्वारा बिना मन्त्र-पाठ के ही लौकिक (यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले अवाहनीय अग्नि में कदापि नहीं) अग्नि में दाहकर्म करना चाहिए—

1. चाण्डाल—शूद्र के वीर्य से और ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न व्यक्ति—द्वारा वध किया गया,

2. श्वपाक—शूद्र के वीर्य से और क्षत्रिया के उदर से उत्पन्न व्यक्ति—द्वारा हत्या का विषय बना,

3. गायों द्वारा अथवा ब्राह्मणों द्वारा मारा गया—(अत्यन्त पापी एवं अधम जीव),

4. विष खाकर आत्महत्या करने वाला, अर्थात् जीवन से निराश, खिन्न एवं कुण्ठित।

उपर्युक्त पांच प्रकार से मृत्यु का ग्रास बनने वाले अग्निहोत्री ब्राह्मण के शव का स्पर्श, वहन तथा अग्नि कर्म करने वाले सपिण्डियों को आत्म-शुद्धि के लिए विद्वान् ब्राह्मणों के निर्देशन में प्राजापत्य व्रत करना चाहिए।

इस प्रकार मरने वाले ब्राह्मण के अग्नि कर्म करने के उपरान्त सपिण्डी द्वारा उसकी अस्थियों को चुनकर उन्हें दूध से धोना चाहिए तथा उन अस्थियों को कहीं अन्यत्र—श्मशान से भिन्न किसी स्थान पर—अपनी अग्नि में अपने ही मन्त्रों (गोत्र में प्रचलित) से पुनः जलाना चाहिए।

स्वेनाग्निना स्वमन्त्रेण पृथगेतत्पुनर्दहेत्।
आहिताग्निर्द्विजः कश्चित्प्रवसन्कालचोदितः ॥ 13 ॥
देहनाशमनुप्राप्तस्तस्याग्निर्वर्तते गृहे।
प्रेताग्निहोत्रसंस्कारः श्रूयतामृषिपुङ्गवाः ॥ 14 ॥

उपस्थित श्रोता मुनियों को सम्बोधित करते हुए महर्षि पराशरजी बोले—

विप्रो! दुर्भाग्यवश किसी अग्निहोत्री ब्राह्मण के परदेश में काल-कवलित हो जाने पर उसकी आहित अग्नि के वहां सुलभ न होने पर उसके दाहकर्म सम्बन्धी विधान, मैं आप लोगों को बताने जा रहा हूं, आप लोग सावधान होकर श्रवण करें।

कृष्णाजिनं समास्तीर्य कुशैस्तु पुरुषाकृतिम्।
षट्शतानि शतं चैव पलाशानां च वृन्ततः॥ 15॥
चत्वारिंशच्छिरे दद्याच्छतं कण्ठे तु विन्यसेत्।
बाहुभ्यां दशकं दद्यादङ्गुलीषु दशैव तु॥ 16॥
शतं तु जघने दद्याद् द्विशतं तूदरे तथा।
दद्यादष्टौ वृषणयोः पञ्च मेढ्रे तु विन्यसेत्॥ 17॥
एकविंशतिमूरुभ्यां द्विशतं जानु-जङ्घयोः।
पादाङ्गुलीषु षड् दद्यात् यज्ञपात्रं ततो न्यसेत्॥ 18॥
शमीं शिश्ने विनिःक्षिप्य अरणीं मुष्कयोरपि।
जुहूं च दाक्षिणे हस्ते वामे तूपभृतं न्यसेत्॥ 19॥
कर्णे चोलूखलं दद्यात्पृष्ठे च मुशलं न्यसेत्।
उरसि क्षिप्य दृषदं तण्डुलाऽऽज्य-तिलान्मुखे॥ 20॥
श्रोत्रे च प्रोक्षणीं दद्यादाज्यस्थालीं तु चक्षुषोः।
कर्णे नेत्रे मुखे घ्राणे हिरण्यशकलं क्षिपेत्॥ 21॥
अग्निहोत्रोपकरणमशेषं तत्र विन्यसेत्।
'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहे' त्येकाहुतिं सकृत्॥ 22॥

काले मृग के चर्म को फैलाकर उस पर कुशों को इस प्रकार से फैलाकर रखना चाहिए कि पुरुष का स्वरूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगे। कुशों के सुलभ न होने पर पुरुष बनाने का कार्य पलाश के सात सौ पत्तों से निम्नोक्त रूप से करना चाहिए—

सिर के स्थान पर चालीस पत्तों को, कण्ठ स्थान पर सौ पत्तों को, दोनों भुजाओं को दिखाने के लिए दस (पांच-पांच) पत्तों को, दोनों हाथों की अंगुलियों के लिए दस—पांच-पांच—पत्तों को, जघन-स्थल पर सौ पत्तों को, उदर-स्थान पर दो सौ पत्तों को, दोनों अण्डकोषों के लिए आठ—चार-चार—पत्तों को, लिंग-स्थान पर पांच पत्तों को, दोनों पिण्डलियों में इक्कीस पत्तों को, दोनों घुटनों और जंघाओं के स्थान पर दो सौ पत्तों को तथा पैर के अंगूठे के स्थान पर छह पत्तों को रखना चाहिए।

इस प्रकार कृष्ण मृगचर्म पर पलाश के सात-सौ पत्तों को बिछाने के रूप में पुरुष का आकार स्पष्ट कर लेने पर वहां यज्ञ-पात्रों को लाना चाहिए।

इसके उपरान्त लिंग पर शमी को, अण्डकोशों पर अरणि को, दाहिने हाथ पर जुहू की कली को, बाएं हाथ पर उपभृत को, कान पर ऊखल को, पीठ पर मूसल को, छाती पर पत्थर को, मुख में घृत, चावल और तिलों को, कान पर प्रोक्षणीपात्र को, नेत्रों पर घृत-पात्र को तथा कान, नेत्र और मुख में स्वर्ण-खण्ड रखकर, उन पर अग्निहोत्र के लिए अपेक्षित सारे सामान—घी, सामग्री, धूप-दीप, समिधा, पात्र, पुष्प, फल, धान्य, तण्डुल, तथा नैवेद्य आदि—को रखना चाहिए। इसके पश्चात् यज्ञ में डाले जाने वाले सारे सामान—घी, दूध, फल चावल आदि—को एक ही साथ, एक ही बार में निम्नोक्त मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहुति देनी चाहिए—**असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा।**

दद्यात्पुत्रोऽथवा भ्राताऽप्यन्यो वाऽपि च बान्धवः।
यथा दहनसंस्कारस्तथा कार्यं विचक्षणैः॥ 23॥

परदेश गये अग्निहोत्री ब्राह्मण के दुर्भाग्यवश प्राण छूट जाने पर पीछे लिखी सारी प्रक्रिया को सम्पन्न करने के उपरान्त दिवंगत के पुत्र अथवा भ्राता या अन्य बन्धु-बान्धव को अपनी कुल-परम्परा में प्रचलित तथा शास्त्रज्ञ विद्वानों द्वारा अनुमोदित विधि-विधान से शव का दाह-संस्कार करना चाहिए।

ईदृशं तु विधिं कुर्याद् ब्रह्मलोके गतिर्ध्रुवम्।
दहन्ति ये द्विजास्तं तु ते यान्ति परमां गतिम्॥ 24॥

उपर्युक्त विधि को अपनाये जाने पर विदेश में प्राण त्यागने वाले अग्निहोत्री ब्राह्मण की तो निश्चित रूप से सद्गति होती ही है, साथ ही अग्निहोत्री ब्राह्मण का शास्त्रोक्त विधि-विधान से दाहकर्म करने वाले उसके वंशजों को भी पुण्य-लाभ होता है। वे भी मरणोपरान्त स्वर्गलोक में निवास के अधिकारी बन जाते हैं।

अन्यथा कुर्वते कर्म त्वात्मबुद्ध्याप्रचोदिताः।
भवन्त्यल्पायुषस्ते वै पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ 25॥

इसके विपरीत परदेश में प्राण त्यागने वाले अग्निहोत्री ब्राह्मण के वंशज उपर्युक्त विधि-विधान की उपेक्षा करके अपनी इच्छा, सुविधा और बुद्धि से अन्यथा कर्म करने के फलस्वरूप, मृत पूर्वज के साथ-साथ अपनी भी दुर्गति करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि परदेश में मृत ब्राह्मण के वंशधरों को शास्त्राज्ञा का कठोरता से पालन करना चाहिए। इसी में दिवंगत ब्राह्मण का और उसके सगे-सम्बन्धियों का हित निहित है। वंशजों को यह सोचना चाहिए कि न जाने किस

पापकर्म के फलस्वरूप उस अभागे को परदेश में अनाथ की मौत मरना पड़ा है। मरते समय—गोबर-लिप्त धरती पर सोना-लेटना, दीया-बत्ती का होना और मुख में तुलसी-दल तथा गंगाजल का पड़ना आदि—कुछ भी तो उस बेचारे को नसीब नहीं हुआ। अब यदि शास्त्रोक्त विधान को नहीं अपनाया जाता, तो उसका उद्धार असम्भव ही होगा और उसके लिए उत्तरदायी वंशज ही तो होंगे। पुत्र को अपने पुत्रत्व (माता-पिता को नरक-यातना से बचाना) को सफल करने के लिए पितृसेवा के रूप में कर्मकाण्ड का निर्वाह तो करना ही है। यह पुत्र का पिता के प्रति कर्तव्य-कर्म है, जिसे पूरा करना उसका धर्म और न्याय है।

॥ इति स्नानादि शुद्धि नामक पञ्चम अध्याय ॥

छठा अध्याय

प्राणिहत्यादिप्रायश्चित्त

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्राणिहत्यासु निष्कृतिम्।
पराशरेण पूर्वोक्तां मन्वर्थेऽपि च विस्तृताम्॥ 1॥

पराशरजी बोले—विप्रो! पूर्वकाल में पहले से ही मेरे द्वारा निरूपित तथा मनु महाराज आदि महर्षियों द्वारा अपने स्मृति-ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित-समर्थित जीव-हिंसा सम्बन्धी पापों से निष्कृति के रूप में निर्दिष्ट प्रायश्चित्तों का परिचय आप लोगों को फिर से कराने लगा हूं। आप लोग एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें।

क्रौञ्च-सारस-हंसांश्च चक्रवाकं च कुक्कुटम्।
जालपादं च शरभं हत्वाऽहोरात्रतः शुचिः॥ 2॥

निम्नोक्त सात प्राणियों—पशु-पक्षियों—का वध करने वाला व्यक्ति एक दिन-रात का उपवास-रूप प्रायश्चित्त करने से जीव-हिंसा के पाप से मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, अर्थात् उसे अपने किये पाप का फल नहीं भोगना पड़ता—

1. क्रौंच (सारस की जाति का एक पक्षी), 2. सारस, 3. हंस, 4. चक्रवाक (चकवा-चकवी), 5. कुक्कुट (मुर्गा), 6. जालपाद—चर्म से ढके पैरों वाले जलचर जीव—बत्तख़, जलमुर्ग आदि तथा 7. शरभ।

टिप्पणी—1. आदिकवि वाल्मीकि की रामायण-रचना के पीछे व्याध द्वारा काममोहित क्रौञ्च मिथुन में से एक की हत्या का दृश्य था, जिससे कवि का रोष, आक्रोश और शोक श्लोक के रूप में फूट पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

2. हंस के सम्बन्ध में साहित्य में अनेक कवि प्रसिद्धियां—Dictions—मिलती हैं—'वह नीर-क्षीर को अलग कर देता है, केवल मानसरोवर पर मिलता है

तथा वह भोजन के रूप में केवल मोती चुगता है।

हंस के उज्ज्वल वर्ण और उदात्त गुणों के कारण वीतराग प्रकाण्ड विद्वान् महात्मा के लिए—'परमहंस'—विशेषण अथवा उपाधि का प्रयोग किया जाता है। हंसः शब्द को ही उलटकर 'सोऽहम्' वेदान्त मन्त्र बना है। वेदान्त में हंस आत्मा का और परमहंस परमात्मा का पर्याय है।

कबीर आदि सन्तों ने भी हंस का प्रयोग—**हंस अकेला उड़ जायेगा**—आत्मा के लिए किया है।

3. चक्रवाक के सम्बन्ध में कवि प्रसिद्धि है कि वे रात में मिल जाते हैं, परन्तु दिन होने से पूर्व नदी के दो अलग किनारों पर आ जाते हैं। दोनों सारा दिन एक-दूसरे को देखने में बिता देते हैं, परन्तु उड़कर एक-दूसरे के पास नहीं आ पाते। रात्रि होने पर ही उनमें उड़ने का सामर्थ्य आ जाता है। सच्चे प्रेमियों के लिए चक्रवाक को उपमान बनाया जाता है।

4. प्राचीनकाल में डायनासोर के समान शरभ हाथी से भी बड़ा, ऊंचा एक विशालकाय एवं बुद्धिमान् जन्तु था, जो आज लुप्त हो गया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में कवियों को शरभ के तुल्य ज्येष्ठ-श्रेष्ठ—**कवयः शरभाः इव**—बताकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। इस विशिष्ट प्राणी के सम्बन्ध में जानकारी न होने के कारण कुछ पण्डितों ने **रलयोरभेदः** के आधार पर शरभ को शलभ मान लिया, परन्तु आज अनुसन्धाता शरभ के अस्तित्व में विश्वास करने लगे हैं।

बलाका-टिट्टिभौ वापि शुक-पारावतावपि।
अटीनबकघाती च शुध्यते नक्तभोजनात्॥ 3॥

निम्नोक्त छह जीवों के वध का प्रायश्चित्त केवल दिन के भोजन का परित्याग है, अर्थात् दिन-भर भूखा रहकर रात में भोजन करने पर प्राणी इन प्राणियों की हत्या के पाप से मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है—

1. बलाका (एक चिड़िया), 2. टिट्टिभ—जलस्रोतों के आस-पास टीं-टीं की ध्वनि करने वाले क्षुद्र जीव, 3. तोता, 4. कबूतर, 5. अटीन और 6. बगुला।

वृक-काक-कपोतानां सारी-तित्तिरिघातकः।
अन्तर्जल उभे सन्ध्ये प्राणायामेन शुध्यति॥ 4॥

निम्नोक्त पांच प्राणियों की हत्या के पाप से शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में प्रातःकाल अथवा सायंकाल जल में खड़े होकर प्राणायाम करना चाहिए—

1. भेड़िया, 2. कौआ, 3. कबूतर, 4. मैना और 5. तीतर।

गृध्र-श्येन-शशादीनामुलूकस्य च घातकः।
अपक्वाशी दिनं तिष्ठेत् त्रिकालं मारुताशनः॥ 5॥

चार—1. गीध, 2. बाज़, 3. उल्लू और 4. ख़रगोश—प्राणियों के वध के पाप की निवृत्ति और शुद्धि के लिए इस प्रकार प्रायश्चित्त करना चाहिए—

प्रथम दिन बिना पकी वस्तु, अर्थात् फल, कन्द, मूल आदि खाना चाहिए। दूसरे दिन तीसरे प्रहर तक या तो निराहार रहना चाहिए या फिर हलका-फुलका भोजन कर लेना चाहिए।

वल्गुली-टिट्टिभानां च कोकिला-खञ्जरीटके।
लाविक-रक्तपक्षेषु शुध्यते नक्तभोजनात्॥ 6॥

निम्नोक्त प्राणियों के वध के पाप की निवृत्ति और शुद्धि के लिए दिन में भोजन के परित्याग का विधान है, अर्थात् दिन-भर उपवास करके और केवल रात्रि में भोजन करने से हत्या के पाप से मुक्ति मिल जाती है—

1. बल्गुली, 2. टिट्टिभा, 3. कोयल, 4. खञ्जरीट, 5. लाविका (बटेर) तथा 6. लाल पंखों वाले अन्यान्य सभी पक्षी।

कारण्डव-चकोराणां पिङ्गला-कुररस्य च।
भारद्वाजादिकं हत्वा शिवं सम्पूज्य शुध्यति॥ 7॥

निम्नोक्त पांच प्रकार के पक्षियों के वध के पाप की निवृत्ति तथा शुद्धि के लिए भगवान् आशुतोष शिवशंकर की पूजा-उपासना करनी चाहिए—

1. कारण्डव, 2. चकोर, 3. पिंगला—एक चिड़िया, 4. कुरर—कुरलाने वाली एक चिड़िया तथा 5. भारद्वाज आदि।

टिप्पणी—चकोर के सम्बन्ध में एक तो काव्यरूढ़ि है—उसका धधकते अंगारों को निगलना, दूसरी काव्यरूढ़ि है—उसका निरन्तर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाकर देखना। प्रेम की पराकाष्ठा के लिए चन्द्र-चकोर की उपमा दी जाती है।

भेरुण्ड-चाष-भासांश्च पारावत-कपिञ्जलान्।
पक्षिणां चैव सर्वेषामहोरात्रमभोजनम्॥ 8॥

निम्नोक्त पक्षियों के वधिक को आत्मशुद्धि एवं पाप-निवृत्ति के लिए पूरे दिन-रात उपवास (भोजन का परित्याग) करना चाहिए। 1. भेरुण्ड, 2. चाष (नीलकण्ठ अथवा गरुड़), 3. भास—चमकीले रंग की चिड़िया, 4. पारावत तथा 5. कपिञ्जल आदि।

स्मृतिकार के अनुसार—सभी प्रकार के पक्षियों का वध करने वाले को एक दिन-रात के भोजन का पूर्णतः परित्याग करना चाहिए।

हत्वा मूषक-मार्जार-सर्पाऽजगर-डुण्डुभान्।
कृसरं भोजयेद्विप्रान् लौहदण्डं च दक्षिणाम्॥ 9॥

निम्नोक्त पांच जीवों की हत्या करने अथवा हो जाने पर पाप से मुक्ति पाने के लिए ब्राह्मणों को कृशर—अन्न-तिल-मूंग की खिचड़ी—खिलानी चाहिए तथा दक्षिणा में उन्हें लौहदण्ड समर्पित करना चाहिए। 1. मूषक, 2. बिल्ली, 3. सर्प, 4. अजगर—लम्बा, मोटा, विषैला सांप तथा 5. डुण्डुभ—पानी में रहने वाला तथा पानी में ही काटने वाला सर्प।

शिशुमारं तथा गोधां हत्वा कूर्मं च शल्यकम्।
वृन्ताकफलभक्षी चाप्यहोरात्रेण शुध्यति॥ 10॥

1. शिशुमार—सूंस, 2. गोधा—पानी में रहने वाली कछुए की जाति का एक जीव, 3. कछुवा तथा 4. शल्यक—जिसके शरीर पर कांटे उभरे होते हैं—की हत्या का प्रायश्चित्त एक-दिन का उपवास अथवा (बैंगन) खाकर निर्वाह करना है। इस प्रायश्चित्त से ही वधिक के पाप की निवृत्ति और फिर शुद्धि हो जाती है।

वृक-जम्बुक-ऋक्षाणां तरक्षूणां च घातने।
तिलप्रस्थं द्विजे दद्याद्वायुभक्षो दिनत्रयम्॥ 11॥

वृक—भेड़िया, जम्बुक—गीदड़, रीछ तथा तरख-जैसे जन्तुओं का वध करने पर ब्राह्मण को एक प्रस्थ (मुट्ठी) तिलों का दान देने से तथा तीन दिनों तक उपवास करने से पाप-निवृत्ति एवं शुद्धि हो जाती है।

गजस्य च तुरङ्गस्य महिषोष्ट्रनिपातने।
प्रायश्चित्तमहोरात्रं त्रिसन्ध्यमवगाहनम्॥ 12॥

गज, अश्व, महिष (भैंसा) तथा ऊंट की हत्या का प्रायश्चित्त है—एक दिन-रात व्रत करना तथा तीनों—सन्धिवेलाओं—प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल—में स्नान करना।

कुरङ्गं वानरं सिंहं चित्रं व्याघ्रं च घातयन्।
शुध्यते स त्रिरात्रेण विप्राणां तर्पणेन च॥ 13॥

मृग, वानर, सिंह, चीता तथा बाघ की हत्या का प्रायश्चित्त है—तीन दिनों तक व्रतोपवास करना तथा चौथे दिन ब्राह्मण को भोजन आदि से तृप्त-सन्तुष्ट करना।

मृग-रोहिद्वराहाणामवेर्बस्तस्य घातकः।
अकालकृष्टमश्नीयादहोरात्रमुपोष्य सः॥ 14॥

मृग, रोही, शूकर, भेड़ और बकरे के वध का प्रायश्चित्त है—पूरे दिन का उपवास करना और दूसरे दिन बिना जुती धरती में उपजे अन्न का सेवन करना। इस विधान से ही व्यक्ति पाप-मुक्त एवं शुद्ध होता है।

एवं चतुष्पदानां च सर्वेषां वनचारिणाम्।
अहोरात्रोषितस्तिष्ठेज्जपन्वै जातवेदसम्॥ 15॥

जीव-हिंसा के प्रायश्चित्त का समाहार करते हुए महर्षि पराशर का कथन है—सभी प्रकार के चार पैरों वाले जंगली पशुओं के वध का प्रायश्चित्त है—एक दिन-रात (चौबीस घण्टों) का उपवास करना और पूरे चौबीस घण्टे अत्यन्त सावधान होकर—**जातवेदसे सुनवाम सोमम्**—मन्त्र का निरन्तर जाप करना। यही शुद्धि और पाप से निवृत्ति का उपाय है।

शिल्पिनं कारुकं शूद्रं स्त्रियं वा यस्तु घातयेत्।
प्राजापत्यद्वयं कृत्वा वृषैकादश दक्षिणा॥ 16॥

शिल्पकार—मूर्ति, चित्र तथा स्थापत्य आदि ललित कलाओं में कुशल—पाचक, स्त्री और शूद्र के वध का प्रायश्चित्त है—दो प्राजापत्य व्रत का अनुष्ठान तथा ब्राह्मण को दक्षिणा-रूप में दस गाय और एक बैल समर्पित करना। इस प्रायश्चित्त को करने से ही व्यक्ति पाप-मुक्त एवं शुद्ध होता है।

वैश्यं वा क्षत्रियं वाऽपि निर्दोषं योऽभिघातयेत्।
सोऽतिकृच्छ्रद्वयं कुर्याद् गोविंशद्दक्षिणां ददेत्॥ 17॥

निर्दोष क्षत्रिय तथा वैश्य की हत्या का प्रायश्चित्त है—दो अतिकृच्छ्र व्रतों का पालन तथा ब्राह्मण को दान-दक्षिणा के रूप में बीस गाएं समर्पित करना। इस प्रायश्चित्त को पूरा करने के उपरान्त ही हत्यारा शुद्ध होता है।

वैश्यं शूद्र क्रियाऽऽसक्तं विकर्मस्थं द्विजोत्तमम्।
हत्वा चान्द्रायणं तस्य त्रिंशद्गाश्चैव दक्षिणा। 18॥

यज्ञ-यागादि पुण्यकर्म के सम्पन्न करने में अथवा पूजा-पाठ, जप-तप आदि के निर्वहण में प्रवृत्त वैश्य अथवा शूद्र के वध का प्रायश्चित्त है—चान्द्रायण-जैसे कृच्छ्र व्रत को पूरा करना तथा ब्राह्मणों को बीस गाएं दान-दक्षिणा के रूप में सौंपना।

अपने धर्म से भ्रष्ट तथा आचारहीन ब्राह्मण के वध का भी यही दण्ड-रूप प्रायश्चित्त है।

चाण्डालं हतवान् कश्चिद् ब्राह्मणो यदि कञ्चन।
प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं गोद्वयं दक्षिणां ददेत्॥ 19॥

किसी चाण्डाल का वध करने वाले ब्राह्मण को पाप-निवृत्ति एवं आत्मशुद्धि के लिए कृच्छ्र व्रत करना चाहिए तथा दूसरे विद्वान् ब्राह्मण को दान-दक्षिणा के रूप में दो गाएं प्रदान करनी चाहिए।

क्षत्रियेणापि वैश्येन शूद्रेणैवेतरेण वा।
चाण्डालस्य वधे प्राप्ते कृच्छ्रार्धेन विशुध्यति॥ 20॥

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि के अतिरिक्त किसी अन्य—अन्त्यज अथवा पतित ब्राह्मण—द्वारा किसी चाण्डाल का वध करने पर अथवा हो जाने पर हत्यारे को पाप-निवृत्ति तथा आत्मशुद्धि के लिए अर्धकृच्छ्र व्रत का पालन करना चाहिए।

चौराः श्वपाकचाण्डाला विप्रेणाभिहता यदि।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति॥ 21॥

चोरी करने आये अथवा रंगे हाथों पकड़े गये श्वपाक—शूद्र के वीर्य से और क्षत्राणी के गर्भ से उत्पन्न वर्णसंकर—अथवा चाण्डाल—शूद्र से सम्पर्क करने वाली ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न वर्णसंकर—का वध करने वाले ब्राह्मण को पाप-निवृत्ति तथा आत्मशुद्धि के लिए एक दिन-रात का उपवास करके पञ्चगव्य का सेवन करना चाहिए।

श्वापाकं वाऽपि चाण्डालं विप्रः सम्भाषते यदि।
द्विजसम्भाषणं कुर्यात्सावित्रीं च सकृज्जपेत्॥ 22॥

श्वपाक अथवा चाण्डाल से बातचीत करने वाले ब्राह्मण को आत्मशुद्धि के

लिए अन्यान्य ब्राह्मणों से बोलचाल करनी चाहिए तथा गायत्री मन्त्र का जाप करना चाहिए।

चाण्डालैः सह सुप्ते तु त्रिरात्रमुपवासयेत्।
चाण्डालैकपथं गत्वा गायत्री स्मरणाच्छुचिः॥ 23॥

चाण्डाल के साथ चलने-फिरने तथा मार्ग की दूरी को निपटाने का प्रायश्चित्त गायत्री मन्त्र का जाप है। चाण्डाल के साथ सोने वाले ब्राह्मण को तो आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में तीन दिन-रात का उपवास करना चाहिए।

चाण्डालादर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्॥ 24॥

चाण्डाल को देख लेने पर दृष्टिकोण के परिमार्जन के लिए तत्काल सूर्य-नारायण का दर्शन कर लेना चाहिए। चाण्डाल द्वारा छुए जाने पर वस्त्रों सहित स्नान करने से व्यक्ति शुद्ध हो जाता है।

चाण्डालखातवापीषु पीत्वा सलिलमग्रजः।
अज्ञानाच्चैकभक्तेन त्वहोरात्रेण शुध्यति॥ 25॥

चाण्डाल द्वारा खुदवाये जलस्रोत—कूप, वापी तथा सरोवर आदि—का अनजाने में प्रयोग करने वाला, अर्थात् नहाने-धोने वाला अथवा जल-पान करने वाला ब्राह्मण एक समय का उपवास करने से शुद्ध हो जाता है। वास्तविकता को जानते हुए भी उस जलस्रोत का प्रयोग करने वाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त के रूप में पूरे दिन-रात का उपवास करना चाहिए। इस प्रायश्चित्त को करने पर वह पापमुक्त एवं शुद्ध होता है।

चाण्डालभाण्डसंस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम्।
गोमूत्रयावकाहारस्त्रिरात्राच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ 26॥

चाण्डाल के पात्र द्वारा कूप से निकाले गये जल को पीने वाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त में तीन दिनों तक गोमूत्र में यवागू—जौ का आटा—को पकाकर सेवन करना चाहिए। इसी से उसके पाप की निवृत्ति तथा शुद्धि होती है।

चाण्डालघटसंस्थं तु यत्तोयं पिबति द्विजः।
तत्क्षणात्क्षिपते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत्॥ 27॥

चाण्डाल के पात्र में रखे जल को पी लेने पर भले ही उसे तत्काल वमन द्वारा

क्यों न बाहर निकाल दिया हो, ब्राह्मण को आत्मशुद्धि और पाप-निवृत्ति के लिए प्राजापत्य नामक कृच्छ्र व्रत करना ही चाहिए।

यदि न क्षिपते तोयं शरीरे यस्य जीर्यति।
प्राजापत्यं तदावश्यं कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्॥ 28॥

चाण्डाल के पात्र में रखे जल को अनजाने में पी जाने पर और पता चलते ही वमन की चेष्टा करने पर पानी के बाहर न निकल पाने, अर्थात् पेट के भीतर पच जाने पर अभागे ब्राह्मण को आत्मशोधन और पाप-प्रक्षालन के लिए कृच्छ्र सन्तापन व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए।

चरेत्सान्तपनं विप्रः प्राजापत्यमनन्तरः।
तदर्द्धं तु चरेद्वैश्यः पादं शूद्रस्य दापयेत्॥ 29॥

चाण्डाल के पात्र में रखे जल को अनजाने में पीने और जानकारी होने पर वमन द्वारा पिये जल को निकालने की चेष्टा में असफल रहने की स्थिति में आत्मशोधन और पाप-प्रक्षालन के इच्छुक ब्राह्मण को प्रायश्चित्त के रूप में सन्तापन व्रत का, क्षत्रिय को प्राजापत्य व्रत का, वैश्य को अर्धप्राजापत्य व्रत का और शूद्र को चौथाई प्राजापत्य व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए।

भाण्डस्थमन्त्यजानां तु जलं दधि पयः पिबेत्।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव प्रमादतः॥ 30॥
ब्रह्मकूर्चोपवासेन द्विजातीनां तु निष्कृतिः।
शूद्रस्य चोपवासेन तथा दानेन शक्तितः॥ 31॥

प्रमाद अथवा अज्ञानवश चाण्डाल आदि अन्त्यज के पात्र में रखे अन्न, दुग्ध, दधि आदि का सेवन करने वाले द्विजों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगों—की शुद्धि और पाप-मुक्ति के लिए ब्रह्मकूर्च व्रत का पारायण करना चाहिए। शूद्र को एक दिन का उपवास तथा अपने सामर्थ्य के अनुसार ब्राह्मणों को दान देना चाहिए, इसी से उसका कल्याण होता है।

भुङ्क्तेऽज्ञानाद् द्विजश्रेष्ठश्चाण्डालान्नं कथञ्चन।
गोमूत्रयावकाहाराद्दशरात्रेण शुध्यति॥ 32॥

चरित्रवान् ब्राह्मण द्वारा अज्ञान, प्रमाद आदि किसी भी कारणवश चाण्डाल के

अन्न का सेवन कर लिये जाने पर उसे अपने पाप के प्रायश्चित्त में दस दिनों तक गोमूत्र में यावक (जौ का सत्तू) पकाकर खाने चाहिए। जानबूझकर चाण्डाल के अन्न को खाने वाले ब्राह्मण को तो आत्मशुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत का पालन करना चाहिए।

एकैकं ग्रासमश्नीयाद् गोमूत्रयावकस्य च।
दशाहं नियमस्थस्य व्रतं तत्र विनिर्दिशेत्॥ 33॥

चान्द्रायण व्रत में बीस दिनों तक गोमूत्र में पके यावक का केवल एक ग्रास खाना होता है। इसके उपरान्त दस दिनों तक सर्वथा निराहार रहना होता है।

अविज्ञातस्तु चाण्डालो यत्र वेश्मनि तिष्ठति।
विज्ञाते तूपसन्न्यस्य द्विजाः कुर्युरनुग्रहम्॥ 34॥

अनजाने में चाण्डाल को अपने घर में शरण देने वाले ब्राह्मण को सत्य की जानकारी होते ही चाण्डाल को घर से बाहर निकाल देना चाहिए और फिर उदार एवं कृपालु ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त करके आत्मशोधन करना चाहिए।

मुनिवक्त्रोद्गतान्धर्मान् गायन्तो वेदपारगाः।
पतन्तमुद्धरेयुस्ते धर्मज्ञाः पापसङ्कटात्॥ 35॥

वेद-विद्या में निष्णात, धर्मनिष्ठ एवं आचारवान् ब्राह्मणों के लिए उचित है कि वे इस प्रकार चाण्डाल को घर में आश्रय देने के कारण पतित हुए अपने जाति-बन्धुओं से पराशर आदि महर्षियों द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त बताकर एवं करके उनका इस संकट से उद्धार करें। आचारभ्रष्ट ब्राह्मणों को अपने उद्धारक ब्राह्मणों के प्रति आभार प्रकट करते हुए उनके निर्देशों का यथावत् श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिए।

दध्ना च सर्पिषा चैव क्षीरगोमूत्रयावकम्।
भुञ्जीत सह भृत्यैश्च त्रिसन्ध्यमवगाहनम्॥ 36॥

अनजाने में चाण्डाल को अपने घर में आश्रय देने वाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त के रूप में तीन दिनों तक अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ गोमूत्र में पके हुए यावक—जौ के सत्तू—को दूध, दही और घी के साथ खाना चाहिए तथा तीनों सन्ध्याओं—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल—में स्नान करना चाहिए।

त्र्यहं भुञ्जीत दध्ना च त्र्यहं भुञ्जीत सर्पिषा।
त्र्यहं क्षीरेण भुञ्जीत एकैकेन दिनत्रयम्॥ 37॥

अज्ञानवश चाण्डाल को अपने घर में रखने वाले ब्राह्मण को इस पाप के प्रायश्चित्त के रूप में अपने परिवारजनों के साथ गोमूत्र में पके यवागू को तीन दिन घी के साथ, तीन दिन दही के साथ और तीन दिन दूध के साथ खाना चाहिए। इसके उपरान्त तीन दिनों तक गोमूत्र में पकाये यवागू को दूध, दही और घी मिलाकर खाना चाहिए। बारह दिनों तक इस प्रकार का भोजन करने से यह व्रत सम्पन्न होता है।

भावदुष्टं न भुञ्जीत नोच्छिष्टं कृमिदूषितम्।
दधिक्षीरस्य त्रिपलं पलमेकं घृतस्य तु॥ 38॥

दूध, दही आदि के सेवन योग्य होने के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो जाने पर अथवा उसके जूठा होने का पता चलने पर अथवा उनमें मक्खी, मच्छर, चींटी-कीड़ा आदि गिर जाने पर उनका सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। प्रायश्चित्त के अन्तर्गत सेवन किये जाने वाले दूध, दही और घी का परिमाण इस प्रकार है—

घी एक पल, अर्थात् पचास ग्राम के लगभग।

दुग्ध और दधि तीन पल, अर्थात् डेढ़ सौ ग्राम के लगभग।

टिप्पणी—दुग्ध, दधि की मात्रा कम प्रतीत होती है, परन्तु प्रायश्चित्त के अन्तर्गत इतनी मात्रा के सेवन की अनुमति देना भी ऋषियों की उदारता एवं महानता ही है।

भस्मना तु भवेच्छुद्धिरुभयोः ताम्र-कांस्ययोः।
जलशौचेन वस्त्राणां परित्यागेन मृण्मयम्॥ 39॥

तांबे और कांसे-जैसे धातुओं से बने पात्रों को राख से मांजने और फिर जल से धोये जाने पर उनकी शुद्धि हो जाती है, अर्थात् वे पुनः प्रयोग में लाये जाने योग्य हो जाते हैं। मैले, गन्दे और अपवित्र वस्त्रों की जल से धोये जाने पर शुद्धि हो जाती है, अर्थात् वे पुनः प्रयोग में लाये जाने योग्य हो जाते हैं, परन्तु मिट्टी के बरतन एक बार अशुद्ध—जूठे, गन्दे तथा अपवित्र—हो जाने पर किसी साधन—आग, पानी तथा वायु आदि—से शुद्ध नहीं किये जा सकते। अतः मिट्टी के पात्रों के गन्दा, मैला, जूठा हो जाने पर उन्हें सदा के लिए फेंक देना चाहिए।

कुसुम्भ-गुड-कार्पास-लवणं तैल-सर्पिषी।
द्वारे कृत्वा तु धान्यानि दद्याद्वेश्मनि पावकम्॥ 40॥

चाण्डाल द्वारा आश्रय पाये भवन में रखे कुसुम्भ, गुड़, कपास, लवण, तैल, घृत तथा सभी प्रकार के अन्नों को निकाल लेना चाहिए तथा उस भवन में आग लगा देनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि चाण्डाल के निवास वाला घर चारों वर्णों के लोगों के लिए रहने योग्य नहीं रहता है।

टिप्पणी—घर को आग लगाने के निर्देश से चाण्डाल के प्रति घृणा के भाव की जानकारी के साथ यह भी अनुमान होता है कि उन दिनों घास-फूस के बने घर होते होंगे, अन्यथा आज के समय के छोटे-से पक्के घर को आग लगाने की बात कोई सोच भी नहीं सकता। इसके अतिरिक्त अन्य विचारणीय तथ्य यह भी है कि क्या एक मकान को आग लगाने पर उससे सटे आस-पास के मकान प्रभावित नहीं होंगे? क्या उस युग में प्रत्येक कुटिया दूसरी कुटिया से अलग-थलग बनी रहती थी? आज तो झुग्गी-झोंपड़ियों का भी एक झुण्ड बना रहता है और एक झुग्गी को लगी आग न जाने कितनी और झुग्गियों को लील लेती है। एक अन्य विचारणीय तथ्य यह भी है कि प्राचीनकाल में आज-जैसे आग बुझाने के विकसित उपकरण भी नहीं थे। समग्रत: चाण्डाल के निवास को सवर्णों के प्रवेश के अयोग्य ठहराते हुए उसे जला देने के निर्देश को आज के युग में तो 'मानवता का अपमान' ही कहा जायेगा।

एवं शुद्धस्ततः पश्चात्कुर्याद् ब्राह्मणतर्पणम्।
विंशतिर्गा वृषं चैकं दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम्॥ 41॥

चाण्डाल के निवास वाले आवास को अग्नि को समर्पित करने से शुद्ध होने के उपरान्त स्नान आदि से निवृत्त होकर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए और फिर उन्हें बीस गाएं और एक बैल दक्षिणा के रूप में देना चाहिए।

पुनर्लेपन-खातेन होम-जप्येन शुध्यति।
आधारेण च विप्राणां भूमिदोषो न विद्यते॥ 42॥

इसके उपरान्त उस आवास—चाण्डाल के निवास—के अग्नि से भस्मीभूत हो जाने पर वहां की धरती को खोदने तथा लीपने के उपरान्त उस पर जप-होम आदि करने से तथा ब्राह्मणों को उस पर बिठाने से वह भूमि शुद्ध, अर्थात् निवास-योग्य (उस पर फिर से भवन निर्माण कराये जाने के उपयुक्त) हो जाती है

अभिप्राय यह है कि उस भूमि के सभी दोष समाप्त हो जाते हैं और उस पर नया निर्माण किया जा सकता है।

टिप्पणी—इस प्रकार के विधान का पालन होता होगा—इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।

चाण्डालैः सह सम्पर्कं मासं मासार्द्धमेव वा।
गोमूत्रयावकाहारो मासार्द्धेन विशुध्यति॥ 43॥

पन्द्रह दिनों तक अथवा एक मासपर्यन्त चाण्डालों के साथ रहने का प्रायश्चित्त है—पन्द्रह दिनों तक गोमूत्र में पके यावक का सेवन। इस प्रायश्चित्त से पाप से निवृत्ति तथा शुद्धि हो जाती है।

रजकी चर्मकारी च लुब्धकी वेणुजीविनी।
चातुर्वर्ण्यस्य च गृहे त्वविज्ञाता तु तिष्ठति॥ 44॥
ज्ञात्वा तु निष्कृतिं कुर्यात्पूर्वोक्तस्यार्द्धमेव हि।
गृहदाहं न कुर्वीत शेषं सर्वं च कारयेत्॥ 45॥

चारों वर्णों के लोगों के घर में अनजाने में रहती धोबिन, चमारिन, व्याधिन तथा वेणुजीवनी (बांस के तारों से टोकरियां आदि बनाकर जीवन-निर्वाह करने वाली स्त्री) की वास्तविकता का पता चलने पर सर्वप्रथम तो उसे तत्काल घर से निकाल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त का आधा प्रायश्चित्त करना चाहिए, अर्थात् घर को आग से नष्ट तो नहीं करना चाहिए। हां, धरती की खुदाई-लिपाई, उस पर जप-होम और ब्राह्मणों को बिठाकर उन्हें खिलाना-पिलाना आदि सब कुछ अवश्य करना चाहिए।

गृहस्याभ्यन्तरं गच्छेच्चाण्डालो यदि कस्यचित्।
तमागाराद्विनिर्वास्य मृद्भाण्डं तु विसर्जयेत्॥ 46॥

किसी के घर में चाण्डाल के घुस आने पर सर्वप्रथम तो उसे तत्काल घर से बाहर निकाल देना चाहिए। उसके पश्चात् घर में रखे मिट्टी के बरतनों को अपवित्र मानकर उन्हें फेंक देना चाहिए तथा पवित्र जल को छिड़ककर घर को शुद्ध-पवित्र बनाना चाहिए।

रसपूर्णं तु मृद्भाण्डं न त्यजेत्तु कदाचन।
गोमयेन तु सम्मिश्रैर्जलैः प्रोक्षेद्गृहं तथा॥ 47॥

घर में घुसे चाण्डाल को बाहर निकाल देने पर मिट्टी के ख़ाली बरतनों को तो बाहर फेंक देना चाहिए, परन्तु मिट्टी के जिन पात्रों में घी, तेल, रस, दही आदि रखा हो, उन्हें बाहर फेंकने की कोई आवश्यकता नहीं। हां, चाण्डाल को निकाल देने के उपरान्त धरती को गोबर से लीप देना चाहिए तथा सारे घर में जल का छिड़काव करना चाहिए।

ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूय-शोणितसम्भवे।
कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत्?॥ 48॥

पराशरजी बोले—विप्रो! अब मैं आप लोगों को ब्राह्मण के शरीर के किसी अंग पर व्रण हो जाने, उससे रक्त-पीव के बहने और व्रण में कृमि-कीट आदि के पड़ जाने पर उसके द्वारा किये जाने वाले प्रायश्चित्त से सम्बन्धित जानकारी देने लगा हूं। आप लोग सावधान होकर यह सब श्रवण करें।

गवां मूत्र-पुरीषेण दध्ना क्षीरेण सर्पिषा।
त्र्यहं स्नात्वा च पीत्वा च कृमिदुष्टः शुचिर्भवेत्॥ 49॥

व्रण से निकले रक्त-पीव में गिरकर मरे कीट, चींटी आदि के पाप से मुक्ति एवं शुद्धि के लिए ब्राह्मण को तीन दिनों तक पञ्चगव्य—मूत्र, पुरीष (गोबर), दुग्ध, दधि तथा घृत—से स्नान करना चाहिए तथा पञ्चगव्य का ही भोजन करना चाहिए।

क्षत्रियोऽपि सुवर्णस्य पञ्च माषान्प्रदाय तु।
गोदक्षिणां तु वैश्यस्याप्युपवासं विनिर्दिशेत्॥ 50॥

यदि यही स्थिति क्षत्रिय और वैश्य की हो, तो उन्हें निम्नोक्त प्रायश्चित्त करना चाहिए—क्षत्रिय को तीन दिनों तक पञ्चगव्य से स्नान और पञ्चगव्य का सेवन करने के अतिरिक्त पांच माशा (पांच ग्राम) स्वर्ण ब्राह्मण को दान में देना चाहिए।

वैश्य के साथ ऐसा घटने पर—व्रण से निकले रक्त-पीव में चींटी आदि के मर जाने पर—उसे एक दिन का उपवास करना चाहिए तथा ब्राह्मण को गाय दान में देनी चाहिए।

शूद्राणां नोपवासः स्यात् शूद्रो दानेन शुध्यति।
अच्छिद्रमिति यद्वाक्यं वदन्ति क्षितिदेवताः॥ 51॥

शूद्र के साथ यह सब घटने पर, अर्थात् उसके शरीर के किसी अंग पर उभरे

व्रण से रिसते-बहते, रक्त-पीव में गिरकर किसी चींटे के प्राणहीन हो जाने पर वह दान करने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है। उसके द्वारा दिये दान से सन्तुष्ट ब्राह्मण यदि उसे 'अच्छिद्रमस्तु' कहने के रूप में निर्दोष घोषित कर देते हैं, तो उसे आत्मशुद्धि तथा पापनिवृत्ति के लिए किसी उपवास की कोई आवश्यकता नहीं।

टिप्पणी—स्पष्ट है कि उपवास से बचने के लिए ब्राह्मणों की अनुमति (निर्दोष होने का प्रमाण-पत्र) चाहिए और इसके लिए ब्राह्मणों को घूस-जैसा भारी दान देकर उन्हें अपने पक्ष में करना अपेक्षित है। ब्राह्मणों ने अपने आप के लिए कैसे-कैसे तरीक़े निकाल लिये हैं। यह सब तो देखकर उनकी बुद्धिमत्ता का सचमुच ही लोहा मानना पड़ता है।

प्रणम्य शिरसा ग्राह्यमग्निष्टोमफलं हि तत्।
जपच्छिद्रं तपच्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि॥ 52॥
सर्वं भवति निश्छिद्रं ब्राह्मणैरुपपादितम्:
व्याधिव्यसनिनिश्रान्ते दुर्भिक्षे डामरे तथा॥ 53॥
उपवासो व्रतं होमो द्विजसम्पादितानि वै।
अथवा ब्राह्मणास्तुष्टाः सर्वे कुर्वन्त्यनुग्रहम्॥ 54॥

ब्राह्मणों को प्रणाम करना और उनके द्वारा प्रसाद-रूप में दिये गये फल, अथवा तुलसी-दल आदि को मस्तक पर चढ़ाना, अग्निष्टोम यज्ञ को सम्पन्न करने से प्राप्त होने वाले फल-जितना पुण्यदायक होता है।

ब्राह्मणों द्वारा प्रसन्न होकर यजमान को दिये आशीर्वाद से उनके द्वारा किये गये जप, तप और यज्ञ आदि में रह गयी किसी भी प्रकार की न्यूनता अथवा भूल-चूक की पूर्ति हो जाती है। वस्तुतः ब्राह्मण की वाणी को ईश्वर की वाणी ही समझना चाहिए।

किसी भी प्रकार की व्याधि—शारीरिक रोग—से आक्रान्त, व्यसन—मदिरा-सेवन, वेश्यागमन आदि बुरे कार्यों—में लिप्त, श्रान्त-क्लान्त, दुर्भिक्ष-पीड़ित तथा राजकोप का पात्र बना व्यक्ति भी ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट व्रत, उपवास, यज्ञ-होम आदि को सम्पन्न करने पर और प्रचुर दान-दक्षिणा से ब्राह्मणों को प्रसन्न करने पर ब्राह्मणों द्वारा—त्वम् शुद्धोऽसि—शुद्ध घोषित किये जाने पर सर्वथा पाप-मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को न तो किसी भूल-चूक का और न ही जाने-अनजाने किये किसी पाप का दण्ड भोगना अथवा प्रायश्चित्त करना पड़ता है। ब्राह्मणों की कृपा से उसे सभी अपराधों से क्षमा मिल जाती है।

सर्वान् कामानवाप्नोति द्विजसम्पादितैरिह।
दुर्बलेऽनुग्रहः प्रोक्तस्तथा वै बाल-वृद्धयोः ॥ 55 ॥

ब्राह्मणों के आदेश-निर्देश के अनुसार ही व्रत आदि सम्पन्न करने वाले यजमान की सभी कामनाएं व अभिलाषाएं पूर्ण हो जाती हैं। ब्राह्मणों का भी यह कर्तव्य बनता है कि उन्हें दुर्बलों, बालकों और वृद्धों पर विशेष अनुग्रह करना चाहिए, अर्थात् यदि वे यथोचित दान-दक्षिणादि देने में अथवा अन्य किसी प्रकार से सेवा करने में समर्थ न भी हों, तो भी ब्राह्मणों को अपनी सहज उदारता का परिचय देते हुए उन पर अपनी अहैतुकी कृपा दिखानी चाहिए। उनकी विवशता या असमर्थता के साथ-साथ उनकी निष्ठा-भक्ति को देखते हुए उन्हें—**शुद्धाः स्थ** तुम लोग शुद्ध घोषित किये जाते हो—ऐसा प्रमाण-पत्र दे देना चाहिए।

अतोऽन्यथा भवेद्दोषस्तस्मान्नानुग्रहः स्मृतः।
स्नेहाद्वा यदि वा लोभाद्भयादज्ञानतोऽपि वा ॥ 56 ॥
कुर्वत्यनुग्रहं ये तु तत्पापं तेषु गच्छति।
शरीरस्याऽत्यये प्राप्ते वदन्ति नियमं तु ये ॥ 57 ॥

सामर्थ्य होने पर भी ब्राह्मण के निर्देश का पालन न करने वालों तथा आत्मशुद्धि और पाप-निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त न करने वाले मूर्खों के प्रति ब्राह्मणों को न तो कभी किसी प्रकार की उदारता का प्रदर्शन करना चाहिए और न ही किसी भी रूप में उन पर अनुग्रह करना चाहिए।

उपर्युक्त रूप से समर्थ, परन्तु निष्ठारहित लोगों पर अज्ञान, लोभ, भय अथवा स्नेहवश अनुग्रह करने वाले ब्राह्मण पाप के भागी बनते हैं। हां, यदि समर्थ, परन्तु आस्थारहित व्यक्ति मरणासन्न हों अथवा असाध्य रोग से ग्रस्त हों, तो उनके प्रति उदारता दिखाने वाले, उन पर अहैतुकी कृपा करने के रूप में उन्हें नियमों का निर्देश करने वाले ब्राह्मणें को किसी प्रकार का कोई दोष नहीं लगता। ऐसे लोगों का मार्गदर्शन करने तथा उन्हें सत्पथ अपनाने का उपदेश देने वाले ब्राह्मण पुण्य के ही भागी बनते हैं।

महत्कार्योपेरोधने न स्वस्थस्य कदाचन।
स्वस्थस्य मूढा कुर्वन्ति वदन्ति नियमं च ये ॥ 58 ॥

उपर्युक्त रूप से समर्थ, परन्तु आस्थाविहीन लोगों के सामाजिक अथवा राष्ट्रीय महत्त्व के किसी बृहत् कार्य में संलग्न होने पर, अर्थात् इस कारण से

आत्मशुद्धि एवं पाप-निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करने का समय न निकाल पाने वालों पर ब्राह्मणों को कृपा करनी चाहिए, उन्हें बार-बार चेताना चाहिए तथा उनके कल्याण के लिए सुगम मार्ग का निर्देश करना चाहिए। इसके विरुद्ध स्वस्थ-निठल्ले लोगों द्वारा शास्त्र की उपेक्षा होते देखकर भी ब्राह्मणों को उधर ध्यान नहीं देना चाहिए। ऐसे लोगों की उपेक्षा करना ही उचित है; क्योंकि जब उन्हें चोट लगेगी, तो वे स्वतः विवश भाव से सही मार्ग पर आ जायेंगे। यदि स्वस्थ व्यक्ति ब्राह्मण के पास आकर मार्गदर्शन की प्रार्थना करते हैं, तो ब्राह्मणों को उनके कल्याण में अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए। ब्राह्मणों को ऐसे स्वस्थ व्यक्तियों को इस प्रकार प्रेरित करना चाहिए कि वे श्रद्धा सहित प्रायचिश्त्त आदि में प्रवृत्त होने को महत्त्व देने लगें।

ते तस्य विघ्नकर्तारः पतन्ति नरकेऽशुचौ।
स्वयमेव व्रतं कृत्वा ब्राह्मणं योऽवमन्यते ॥ 59 ॥

ब्राह्मणों की उपेक्षा करके, अर्थात् पाप-विशेष के प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में उनसे बिना पूछे (बिना दान-दक्षिणा भेंट किये) स्वयं ही निर्णय लेकर प्रायश्चित्त कर लेने वाले तथा दिशानिर्देश के लिए ब्राह्मणों को गौरव देने वालों को भटकाने वाले तथा उनके मार्ग में विघ्न डालने वाले व्यक्ति अत्यन्त अपवित्र एवं अन्धकारमय नरक में गिरते हैं तथा भारी दुःखों को झेलते हैं।

अभिप्राय यह है कि किसी की धार्मिक विधान में ब्राह्मणों का परामर्श न लेना, उनका अपमान करने-जैसा दण्डनीय अपराध है।

वृथा तस्योपवासः स्यान्न स पुण्येन युज्यते।
स एव नियमो ग्राह्यो यमेकोऽपि वदेद् द्विजः ॥ 60 ॥

ब्राह्मणों से निर्देश (अनुमति) लिये बिना व्रतोपासना आदि में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति का कोई कर्म, संकल्प तथा मनोरथ पूरा नहीं होता। अतः अभीष्ट फल-प्राप्ति के लिए, किसी भी धर्म-कार्य के लिए, किसी ब्राह्मण से परामर्श करना आवश्यक है। अधिक ब्राह्मणों से सम्पर्क सम्भव न होने पर एक भी ब्राह्मण से विचार-विमर्श के उपरान्त किये गये व्रत-पूजन का पूर्ण फल मिलता है।

कुर्याद्वाक्यं द्विजानां तु ह्यन्यथा भ्रूणहा भवेत्।
ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं तीर्थभूता हि साधवः ॥ 61 ॥

ब्राह्मण और साधु-महात्मा तो चलते-फिरते तीर्थ-रूप हैं, अर्थात् वे पापों का

क्षय और पुण्यों की वृद्धि करने में पूर्ण समर्थ हैं। अतः यजमान को अपने धर्मकृत्य के अभीष्ट फल-लाभ के लिए ब्राह्मणों के कथन का पूर्ण विश्वास और सत्यनिष्ठा से पालन करना चाहिए। ब्राह्मण के वचन की उपेक्षा तो भ्रूणहत्या-जैसा पाप है।

तेषां वाक्योदकेनैव शुध्यन्ति मलिना जनाः।
ब्राह्मणा यानि भाषन्ते मन्यन्ते तानि देवताः ॥ 62 ॥

मलिन कर्म वाले जीव भी ब्राह्मणों के वचन-रूपी जल से धुलकर शुद्ध एवं निष्पाप हो जाते हैं। वस्तुतः तप और साधना के फलस्वरूप ब्राह्मणों के वचनों में वह शक्ति निहित रहती है कि देवता भी उनके कथन में गौरव अनुभव करते हैं, अन्यथा करने का सामर्थ्य नहीं रखते। महाकवि भास ने भी इस प्रकार के विचार प्रकट किये हैं—

टिप्पणी—न ह्युत्क्रम्य गच्छति विधिरपि ब्राह्मण वचांसि सुपरीक्षितानि।

सोच-समझकर ब्राह्मणों के बोले गये वचनों को अन्यथा करने का सामर्थ्य तो ब्रह्माजी में भी नहीं है।

अभिप्राय स्पष्ट है कि तुष्ट ब्राह्मण जहां वरदान एवं आशीर्वाद द्वारा यजमान को कृतकृत्य कर देता है, वहां रुष्ट ब्राह्मण शाप द्वारा यजमान को नष्ट करने का सामर्थ्य भी रखता है—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

सर्वदेवमयो विप्रो न तद्वचन्मन्यथा।
उपवासो व्रतं चैव स्नानं तीर्थं जपस्तपः ॥ 63 ॥
विप्रैः सम्पादितं यस्य सम्पूर्णं तस्य तत्फलम्।
अन्नद्ये कीटसंयुक्ते मक्षिका-केशदूषिते ॥ 64 ॥

ब्राह्मण इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण तथा यम आदि सभी देवों का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है। देवों का सजीव एवं साकार रूप है। अतः उसके वचन को तो सभी देवों के देव श्रीनारायणदेव का ही वचन समझना चाहिए—**ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः**, अर्थात् ब्राह्मण के मुख से तो स्वयं भगवान् ही बोलते हैं। ब्राह्मणों के माध्यम से सम्पन्न व्रत, उपवास, जप, तप, योग-साधना, तीर्थयात्रा, यज्ञ-याग तथा अनुष्ठान आदि यजमान को अभीष्ट फल देने वाले, अर्थात् उसके सभी मनोरथ पूरे करने वाले होते हैं। अतः सिद्धि के इच्छुक व्यक्ति को किसी भी अनुष्ठान में ब्राह्मण की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए।

तदन्तरा स्पृशेच्चापस्तदन्नं भस्मना स्पृशेत्।
भुञ्जानश्चैव यो विप्रः पादं हस्तेन संस्पृशेत्॥ 65॥

खाने-पीने के किसी पदार्थ में मक्खी-मच्छर आदि के पड़ जाने पर उस पदार्थ का सेवन न करना और उसका परित्याग कर देना ही वाञ्छनीय होता है, परन्तु यदि पदार्थ के परिमाण के प्रचुर होने अथवा फेंकने की स्थिति के न होने पर उस पदार्थ पर—सम्भव हो,तो मध्य में—जल अथवा भस्म छिड़ककर उसे शुद्ध करने के उपरान्त ही उसका सेवन करना चाहिए।

इसी प्रकार यदि भोजन करते समय ब्राह्मण का हाथ उसके पैर से छू जाता है, तो उसे तत्काल भोजन छोड़कर उठ जाना चाहिए। यही सनातन व्यवस्था है। वस्तुतः पांव को छूने वाला हाथ अपवित्र हो जाता है और उस हाथ से छुआ भोजन उच्छिष्ट (जूठा) माना जाता है। जूठे भोजन का सेवन ब्राह्मण के लिए वर्जित है—यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

स्वमुच्छिष्टमसौ भुंक्ते यो भुंक्ते भुक्तभाजने।
पादुकास्थो न भुञ्जीत पर्यङ्कं संस्थितोऽपि वा॥ 66॥

इसी प्रकार विवेकशील व्यक्ति को किसी के द्वारा जूठे किये पात्र में अपना भोजन कभी नहीं रखना चाहिए। पलंग पर अथवा पादुका—पैरों में डाला जाने वाला जूता, खड़ाऊं आदि—पर बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए।

श्वानचाण्डालदृष्टौ च भोजनं परिवर्जयेत्।
यदन्नं प्रतिषिद्धं स्यादन्नशुद्धिस्तथैव च॥ 67॥

व्यासजी बोले—तपोधन महात्माओ! सदाचारी द्विज को कुत्ते और चाण्डाल के सामने कभी भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन पर चाण्डाल आदि की परछाईं पड़ने से भोजन अशुद्ध एवं अग्राह्य हो जाता है। सेवन न करने योग्य अन्न आदि के विषय में तथा अन्न को शुद्ध करने की विधि आदि कें सम्बन्ध में महर्षि पराशर द्वारा दिये गये निर्देश इस प्रकार हैं। आप लोग इन सबको ध्यान देकर सुनने का कष्ट करें।

यथा पराशरेणोक्तं तथैवाहं वदामि वः।
श्रृतंद्रोणाढकस्यान्नं काक-श्वानोपघातितम्॥ 68॥
केनेदं शुध्यते? चेति ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत्।
काक-श्वानावलीढं तु द्रोणान्नं न परित्यजेत्॥ 69॥

द्रोण (एक मन) अथवा उससे अधिक के परिमाण में पके अन्न को कौए अथवा कुत्ते द्वारा छू लेने (मुंह मार लेने) पर सम्बद्ध व्यक्ति को इतने बड़े परिमाण वाले अन्न को फेंकना नहीं चाहिए, अपितु ब्राह्मणों से उस अन्न की शुद्धि का उपाय पूछना चाहिए।

वेद-वेदाङ्गविद्विप्रैर्धर्मशास्त्रानुपालकैः ।
प्रस्था द्वात्रिंशतिर्द्रोणः स्मृतो द्विप्रस्थ आढकः ॥ 70 ॥

वेदों, वेदांगों तथा धर्मशास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों ने बत्तीस प्रस्थों का एक द्रोण तथा दो प्रस्थों का एक आढ़क निश्चित किया है।

टिप्पणी—जिस प्रकार दशमलव पद्धति के आधर पर किलोग्राम के प्रचलन से पूर्व चालीस सेर का एक मन और अट्ठाईस मन का एक टन होता था, जिस प्रकार पांच सेर की एक पंसेरी और दो पंसेरियों की एक धड़ी (दस-सेरी) मानी जाती थी तथा आज चालीस किलो का एक क्विण्टल माना जाता है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में दो प्रस्थों का एक आढक तथा सोलह आढकों अथवा बत्तीस प्रस्थों का एक द्रोण बनना प्रचलित रहा होगा।

ततो द्रोणाऽऽढकस्यान्नं श्रुतिस्मृतिविदो विदुः ।
काक-श्वानावलीढं तु गवाघ्रातं खरेण वा ॥ 71 ॥

इतने बड़े परिमाण—एक आढ़क अथवा एक द्रोण—में पके अन्न के कौए अथवा कुत्ते द्वारा जूठा कर लेने पर अथवा गाय, गधे आदि द्वारा सूंघे जाने पर इसे फेंकना नहीं चाहिए।

स्वल्पमन्नं त्यजेद्विप्रः शुद्धिर्द्रोणाऽऽढके भवेत् ।
अन्नस्योद्धृत्य तन्मात्रं यच्च लालाहतं भवेत् ॥ 72 ॥

थोड़े परिमाण—किलो, दो किलो—में पके अन्न में कौए, कुत्ते द्वारा मुंह मारे जाने पर अथवा गाय, घोड़े, गधे आदि द्वारा सूंघे जाने पर, तो उसका परित्याग कर देना चाहिए, परन्तु अधिक परिमाण में पके अन्न के दूषित हो जाने—कौए, कुत्ते, गाय, बैल आदि पशु द्वारा जूठा किये अथवा सूंघे जाने—पर उसे फेंकना उचित नहीं। हां, जितने अंश में लार या जूठन का चिह्न हो, उतने भाग को तथा चारों ओर के थोड़े-बहुत भाग को अलग करके उसे ही फेंकना पर्याप्त है।

सुवर्णोदकमभ्युक्ष्य हुताशेनैव तापयेत्।
हुताशनेन संस्पृष्टं सुवर्णसलिलेन च॥ 73॥

शेष अन्न पर अग्नि में तपे स्वर्ण का स्पर्श करना चाहिए, स्वर्ण से छुए जल का छिड़काव करना चाहिए तथा सम्भव हो, तो सारे अन्न को अग्नि पर तपाना चाहिए। इन उपायों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के दृष्टिपात तथा उनके द्वारा वेदमन्त्रों के उच्चारण के रूप में ध्वनि के संसर्ग से अशुद्ध अन्न सर्वथा शुद्ध एवं तत्काल सेवन करने योग्य हो जाता है।

विप्राणां वेदघोषेण भोज्यं भवति तत्क्षणात्।
स्नेहो वा गोरसो वाऽपि तत्र शुद्धिः कथं भवेत्?॥ 74॥
अल्पं परित्यजेदन्नं स्नेहस्योत्पवनेन च।
अनलज्वालया शुद्धिर्गोरसस्य विधीयते॥ 75॥

घी, तेल तथा दूध, दही आदि द्रवों के अशुद्ध—कौआ-कुत्ता, गाय-भैंस आदि द्वारा सूंघे-खाये जाने—हो जाने पर, उसमें से थोड़ा भाग निकालकर बाहर फेंक देना चाहिए और शेष भाग पर कुशा से जल के छींटे देने चाहिए अथवा उसे आग पर रखकर तपाना चाहिए। इन उपायों से अशुद्ध हुए द्रवणशील पदार्थ शुद्ध एवं सेवन के योग्य हो जाते हैं—ऐसा तत्त्वज्ञानी महात्माओं का मन्तव्य है।

॥ इति प्राणिहत्यादि प्रायश्चित्त नामक षष्ठ अध्याय॥

सातवां अध्याय

द्रव्यशुद्धि

अथातो द्रव्यसंशुद्धिः पराशरवचो यथा।
दारवाणां तु पात्राणां तत्क्षणाच्छुद्धिरिष्यते॥ 1॥

व्यासजी बोले—विप्रो! अब मैं अपने पूज्य पिता महर्षि पराशर द्वारा द्रव्यों की शुद्धि के सम्बन्ध में निर्धारित निर्देश-परक विधान की जानकारी आप लोगों को कराने लगा हूं। आप लोग सावधान होकर सुनने का कष्ट करें—

लकड़ी के पात्रों में अपवित्र—गन्दे, मैले, दुर्गन्धपूर्ण, अपवित्र तथा जूठन आदि—वस्तु के लग जाने पर उन्हें थोड़ा-सा छील लेने पर, अर्थात् ऊपरी परत उतार फेंकने पर अथवा जल से धो लेने पर उनकी तत्काल शुद्धि हो जाती है।

मार्जनाद्यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
चामसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु॥ 2॥

यज्ञ-कर्म में प्रयुक्त होने वाले पात्र हाथ से अथवा वस्त्र आदि से पोंछे जाने पर तथा चम्मच और करछी-जैसे पात्र जल द्वारा भली प्रकार धोये जाने पर शुद्ध-पवित्र हो जाते हैं।

चरूणां च स्त्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
भस्मना शुध्यते कांस्यं ताम्रमम्लेन शुध्यते॥ 3॥

चरु द्रव्य—अग्नि में घृत की प्रत्येक आहुति देने के उपरान्त साथ रखे जल से भरे पात्र में डाली गयी घी की एक-एक बूंद—तथा स्त्रुवा—अग्नि में घी की आहुति देने का चम्मच-जैसा पात्र—आदि को गरम पानी से भली प्रकार धोने पर वे पात्र शुद्ध हो जाते हैं। कांसे के पात्रों की शुद्धि उन्हें भस्म से मलने-रगड़ने पर तथा ताम्र-पात्रों की शुद्धि इमली-नीबू आदि खट्टे पदार्थों से उन्हें मलने-रगड़ने से हो जाती है।

रजसा शुध्यते नारी विकलं या न गच्छति।
नदी वेगेन शुध्येत लेपो यदि न दृश्यते॥ 4॥

जिस प्रकार भ्रष्ट न होने वाली स्त्री की शुद्धि रजोनिवृत्ति से होती है, जिस प्रकार बांध जैसी किसी बाधा के न होने पर नदी के जल की मलिनता तीव्र प्रवाह से जाती रहती है, उसी प्रकार पीतल के पात्रों को धूलि अथवा मिट्टी से मलने पर उनकी शुद्धि हो जाती है।

टिप्पणी—पात्रों की शुद्धि के वर्णन में नारी और नदी के उल्लेख की कोई प्रासंगिकता तो नहीं दीखती। इस उल्लेख की सार्थकता अथवा आवश्यकता ही समझ में नहीं आती।

वापीकूपतडागेषु दूषितेषु कथञ्चन।
उद्धृत्य वै कुम्भशतं पञ्चगव्येन शुध्यति॥ 5॥

वापी, कूप तथा तालाब के जल के किसी भी कारण—मल-मूत्र, जूता, जूठन आदि के फेंकने के अतिरिक्त प्राचीन मान्यता के सन्दर्भ में चाण्डाल के पात्र का डाला जाना आदि—से दूषित हो जाने पर सौ मटके पानी निकाल बाहर फेंकने पर तथा शेष जल में पञ्चगव्य—गोमूत्र, गोबर, गोरस, दधि तथा नवनीत अथवा कुशा—फेंकने-डालने से जल शुद्ध-पवित्र—पीने योग्य—हो जाता है।

टिप्पणी—प्रयोग में न आने से कूप, वापी आदि के स्थिर जल में कीट आदि के उत्पन्न हो जाने पर अथवा आशंका होने पर जल में कीटनाशक औषधियों को डालने और फिर मरे हुए कीट आदि से संयुक्त जल को निकालकर बाहर फेंकने के उपरान्त ही कूप आदि के जल का सेवन करना उचित है।

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥ 6॥

आठ वर्ष की आयु वाली बालिका गौरी, नौ वर्ष की आयु वाली बालिका रोहिणी तथा दस वर्ष की आयु वाली बालिका कन्या कहलाती है।

इससे ऊपर की आयुवाली, अर्थात् ग्यारह अथवा उससे अधिक बड़ी लड़की 'रजस्वला' कहलाती है। अभिप्राय यह है कि लड़की के ग्यारह वर्ष की होते ही उसे मासिक धर्म आना प्रारम्भ हो जाता है।

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम्॥ 7॥

लड़की के बारह वर्ष की होने पर भी उसका विवाह सम्पन्न न करने वाले पुरुष के घर में जितने महीने लड़की अपने रज को व्यर्थ गंवाती है, लड़की के पिता के पितरों को उस रज का पान करना पड़ता है।

अभिप्राय यह है कि पुत्री के पिता को अपने पितरों को रजपान की दुर्गति से बचाने के लिए पुत्री के बारहवें वर्ष में प्रवेश करते ही उसका विवाह सम्पन्न कर देना चाहिए।

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥ 8॥

कन्या का उचित समय—बारह वर्ष की आयु में—पर विवाह न करने वाले उसके पिता, ज्येष्ठ भ्राता तथा उसकी माता, तीनों ही नरकगामी होते हैं।

कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व मूलतः उसके माता-पिता का तथा अंशतः ज्येष्ठ भ्राता—पिता के न होने पर, अयोग्य, असमर्थ अथवा विरक्त होने पर—का होता है। ये तीनों यदि अपने कर्तव्य-कर्म का पालन नहीं करते, कन्या के रजस्वला होने से पूर्व उसके विवाह की व्यवस्था नहीं करते, तो पाप के भागी होते हैं। अभिप्राय यह है कि कन्या के ऋतुमती होने से पूर्व ही उसका विवाह कर देना चाहिए।

यस्तां समुद्वहेत्कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः।
असम्भाष्यो ह्यपाङ्क्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः॥ 9॥

कन्या के रजस्वला होने के उपरान्त उससे विवाह करना अनुचित एवं वर्जित है। इस विधान की उपेक्षा करने वाले, अर्थात् पितृगृह में रजस्वला हो चुकी कन्या से विवाह करने वाले अहंकारी एवं मूर्ख ब्राह्मण से न तो किसी को बातचीत करनी चाहिए और न ही उसे अपनी पंक्ति में बिठाना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को तो शूद्रा अथवा वेश्या से विवाह करने वाला मानना चाहिए, अर्थात् उसे अपनी जाति से भ्रष्ट और आचार से हीन मानकर उससे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि रजस्वला होने से पूर्व विवाहित न होने वाली कन्या विवाह के योग्य ही नहीं रहती। उससे विवाह करने वाला लोकनिन्दित होता है। अतः प्रत्येक स्थिति में यथासमय कन्या का विवाह करना ही उचित है।

यः करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनं द्विजः।
स भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्विशुध्यति॥ 10॥

पितृगृह में रजस्वला हो गयी, अर्थात् वृषली बनी कन्या से विवाह रचने का दुस्साहस करके उसके साथ एक रात बिताने वाला ब्राह्मण तीन वर्षों तक भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह करने तथा निरन्तर जप करते रहने के उपरान्त ही शुद्ध होता है।

अस्तङ्गते यदा सूर्ये चाण्डालं पतितं स्त्रियम्।
सूतिकां स्पृशतश्चैव कथं शुद्धिर्विधीयते?॥ 11॥
जातवेदा: सुवर्णं च सोममार्गं विलोक्य च।
ब्राह्मणानुमतश्चैव स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति॥ 12॥

अग्नि अथवा चन्द्रमा का, स्वर्ण का और चन्द्र-पथ—आकाशगंगा—का दर्शन करना चाहिए तथा ब्राह्मणों के समक्ष अपने पाप का उल्लेख करके उनकी अनुमति से वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिए। तत्पश्चात् जप करने पर व्यक्ति शुद्ध एवं पाप-मुक्त होता है।

स्पृष्ट्वा रजस्वलान्योऽयं ब्राह्मणी ब्राह्मणी तथा।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा त्रिरात्रेणैव शुध्यति॥ 13॥

एक रजस्वला ब्राह्मणी द्वारा किसी दूसरी रजस्वला ब्राह्मणी को छू लेने का प्रायश्चित्त रजोधर्म के तीन दिनों तक उपवास करना और उसके उपरान्त वस्त्रों सहित स्नान करना है। इस प्राश्यचित्त से ही वह शुद्ध होती है।

स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योऽन्यं ब्राह्मणी क्षत्रिया तथा।
अर्धकृच्छ्रं चरेत् पूर्वा पादमेकं त्वनन्तरा॥ 14॥

रजस्वला ब्राह्मणी द्वारा रजस्वला क्षत्रिया को छू लेने पर आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में ब्राह्मणी को अर्धकृच्छ्र व्रत और क्षत्रिया को चौथाई कृच्छ्र व्रत करना चाहिए।

स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी वैश्यजा तथा।
पादहीनं चरेत् पूर्वा पादमेकमनन्तरा॥ 15॥

रजस्वला ब्राह्मणी द्वारा रजस्वला वैश्या को छू लेने पर दोनों के लिए प्रायश्चित्त है, ब्राह्मणी द्वारा पादहीन कृच्छ्र व्रत करना तथा वैश्या द्वारा पाद कृच्छ्र व्रत करना। इसके उपरान्त ही दोनों शुद्ध एवं पापमुक्त होती हैं।

स्पृष्ट्वा रजस्वलान्योऽन्यं ब्राह्मणी शूद्रजा तथा।
कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्रा दानेन शुध्यति॥ 16॥

ब्राह्मणी रजस्वला द्वारा शूद्रा रजस्वला को छू लेने पर ब्राह्मणी पूर्ण कृच्छ्र व्रत करने से और शूद्रा पर्याप्त धन का दान करने से शुद्ध होती है। दोनों के लिए इस प्रायश्चित्त को करना आवश्यक है।

इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी वर्ण की एक रजस्वला स्त्री को किसी दूसरी रजस्वला (किसी भी वर्ण की क्यों न हो) का स्पर्श नहीं करना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि से भी रजस्वला स्त्री को दूसरों से दूर हटकर रहना चाहिए, उन पर अपनी छाया नहीं डालनी चाहिए।

स्नाता रजस्वला या तु चतुर्थेऽहनि शुध्यति।
कुर्याद्रजोनिवृत्तौ तु दैव-पित्र्यादिकर्म च॥ 17॥

रजस्वला स्त्री वैसे तो चौथे दिन (प्रायः रजस्राव तीन दिन तक चलता है, सामान्यतः तीन दिनों के उपरान्त या तो यह स्राव बन्द हो जाता है अथवा मन्द पड़ जाता है।) स्नान करने के उपरान्त शुद्ध हो जाती है, परन्तु जब तक उसके रजस्राव की पूर्णतः निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक उसे देवकर्म—यज्ञ-यागादि—तथा पितृकर्म—श्राद्ध-तर्पण आदि—नहीं करने चाहिए, अर्थात् इन कार्यों में पति का साथ नहीं देना चाहिए।

रोगेण यद्रजः स्त्रीणामन्वहं तु प्रवर्त्तते।
नाशुचिः सा ततस्तेन तत्स्याद्वैकालिकं मलम्॥ 18॥

क़िसी रोग के कारण स्त्री की योनि से प्रतिदिन अथवा कभी-कभी कई दिनों तक चलने वाले स्राव की स्थिति में स्त्री को अशुद्ध-अपवित्र नहीं मानना चाहिए। इसके विपरीत इसे प्रतिमास नियमित-अनियमित रूप से होने वाले रज-स्राव के स्थान पर शारीरिक विकार के कारण उत्पन्न एक विशेष प्रकार का मल-स्राव ही समझना चहिए, जिसकी शुद्धि के लिए मात्र स्नान ही पर्याप्त है।

साध्वाचारा न तावत्स्याद्रजो यावत्प्रवर्तते।
रजोनिवृत्तौ गम्या स्त्री गृहकर्मणि चैव हि॥ 19॥

जितने दिनों तक स्त्री को रजस्राव चलता रहता है, उतने दिन वह देवपूजन, पितृकर्म आदि किसी भी शुभकर्म करने की अधिकारिणी नहीं रहती। रजोनिवृत्ति

के उपरान्त ही वह सच्चे अर्थों में शुद्ध-पवित्र मानी जाती है। यहां तक कि उसे पति का संग भी रजोनिवृत्ति के उपरान्त ही करना चाहिए। रजस्राव की अवधि में पति-संग दोनों—पति-पत्नी—के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने के कारण धर्म-विरुद्ध माना गया है।

प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति॥ 20॥

ऋतुमती होने वाली स्त्री पहले दिन चाण्डाली,दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी और तीसरे दिन धोबिन होती है। चौथे दिन स्नान के उपरान्त ही शुद्ध होने पर वह अपने मूलस्वरूप में आती है।

टिप्पणी—अभिप्राय यह है कि रजस्वला होने पर पहले, दूसरे और तीसरे दिन पति-गमन करने वाली स्त्री क्रमशः चाण्डाली, ब्रह्मघातिनी और धोबिन के रूप में जन्म लेती है अथवा इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष को इन निकृष्ट स्त्रियों से सम्भोग करने पर जो पाप लगता है, वही इन तीन दिनों में अपनी पत्नी से मैथुन करने पर लगता है। अतः इन तीन दिनों तक रजस्वला स्त्री को अपने को अपने पति से दूर ही रखना चाहिए। उसे अपने पति के मन में रतिवासना जागृत करने अथवा अपने प्रति आकर्षण होने देने की कोई चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिए।

आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वा ह्यनातुरः।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुध्येत् स आतुरः॥ 21॥

रजस्वला स्त्री के रोगाक्रान्त होने और पति द्वारा आत्मीयतावश अथवा अपेक्षित सान्त्वना के लिए उसे छूना आवश्यक होने पर पति को रजस्वला को छूने के पाप से शुद्धि के लिए दस बार स्नान करना चाहिए।

इस प्रकार रजस्वला को प्रत्येक बार छूने के उपरान्त दस बार स्नान करना आवश्यक होता है अन्यथा व्यक्ति अशुद्ध-अपवित्र ही बना रहता है।

उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टः शुना शूद्रेण वा द्विजः।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति॥ 22॥

उच्छिष्ट-मुख, किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा, कुत्ते द्वारा अथवा शूद्र द्वारा छुए गये उच्छिष्ट-मुख ब्राह्मण को आत्मशुद्धि तथा पाप-निवृत्ति के लिए एक रात्रि का उपवास करके पञ्चगव्य का सेवन करना चाहिए।

अनुच्छिष्टेन शूद्रेण स्पर्शे स्नानं विधीयते।
तेनाच्छिष्टेन संस्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत्॥ 23॥

अनुच्छिष्ट-मुख—बिना जूठे मुंह, अर्थात् खाने-पीने के उपरान्त कुल्ले आदि को करने से शुद्ध मुख वाले शूद्र द्वारा छुआ गया उच्छिष्ट-मुख—झूठे मुख वाला—ब्राह्मण स्नान मात्र से शुद्ध हो जाता है। इसके विपरीत उच्छिष्ट-मुख शूद्र द्वारा छुए गये ब्राह्मण को आत्मशुद्धि के लिए प्राजापत्य व्रत करना चाहिए।

भस्मना शुध्यते कांस्यं सुरया यन्न लिप्यते।
सुरामात्रेण संस्पृष्टं शुध्यतेऽग्न्युपलेखनैः॥ 24॥

मदिरा से अस्पृष्ट (अछूता)—अर्थात् जिसमें मदिरा नहीं डाली गयी—कांसे का पात्र, तो भस्म से मले जाने पर शुद्ध हो जाता है, परन्तु यदि उस पात्र में मदिरा डाल दी गयी है, तो उसकी शुद्धि के लिए उसे अग्नि में भली प्रकार तपाना चाहिए।

गवाघ्रातानि कांस्यानि श्व-काकोपहतानि च।
शुध्यन्ति दशभिः क्षारैः शूद्रोच्छिष्टानि यानि च॥ 25॥

गाय द्वारा सूंघा गया, कुत्ते अथवा कौए द्वारा मुंह मारने से गन्दा किया गया तथा शूद्र द्वारा प्रयोग में लाया गया कांसे का पात्र खारी मिट्टी से दस बार मलने और जल से धोने पर शुद्ध हो जाता है।

गण्डूषं पादशौचं च कृत्वा वै कांस्यभाजने।
षण्मासान्भुवि निक्षिप्य उद्धृत्य पुनराहरेत्॥ 26॥

कुल्ला फेंकने (जूठा पानी डालने) अथवा पांव धोने के काम में लाया गया कांसे का बरतन छह महीनों तक धरती में दबाकर रखने के उपरान्त निकालने पर ही शुद्ध होता है, अर्थात् साग-सब्ज़ी आदि रखे जाने के योग्य होता है। छह महीनों तक धरती में गाड़कर रखने के उपरान्त ही उसे निकालना और प्रयोग में लाया जाना चाहिए। उससे पूर्व उसका प्रयोग निषिद्ध है।

आयसेष्वायसानां च सीसस्याग्नौ विशोधनम्।
दन्तमस्थि तथा शृङ्गं रौप्यं सौवर्णभाजनम्॥ 27॥
मणिपात्राणि शङ्खश्चेत्येतान् प्रक्षालयेज्जलैः।
पाषाणे तु पुनर्घर्षे शुद्धिरेवमुदाहृता॥ 28॥

लौह के अशुद्ध पात्रों की शुद्धि उन्हें लोहे से घिसने से होती है तथा सीसे के पात्रों की अशुद्धि की निवृत्ति के लिए उन्हें आग में तपाना होता है। दांत, अस्थि, सींग, चांदी, सोना, मणियों तथा शंख से निर्मित पात्रों की शुद्धि के लिए उन्हें जल से धोना होता है।

मृण्मये दहनाच्छुद्धिर्धान्यानां मार्जनादपि।
वेणु-वल्कल-चीराणां क्षौम-कार्पासवाससाम्॥ 29॥
और्ण-नेत्रपटानां च प्रोक्षणाच्छुद्धिरिष्यते।
मुञ्जोपस्कर-शूर्पाणां शणस्य फल-चर्मणाम्। 30॥

मिट्टी के अशुद्ध पात्र आग में तपाये जाने पर ही शुद्ध होते हैं। धान्य—चावल, गेहूं आदि—में कुछ मलिन पड़ जाने पर उन पर जल के छींटे डालने से वे शुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार वेणु-पात्र—बांस से बनी टोकरी, छींका आदि—वल्कल—वृक्ष की छाल—अलसी, तीसी (शहतूत) रेशम, कपास, ऊन, मूंज तथा भोजपत्र आदि के अतिरिक्त सन, फल तथा चर्म आदि से बने वस्त्र, झाड़ू और सूप-छाज आदि पर जल का मार्जन करने से उनकी शुद्धि हो जाती है।

तृणकाष्ठस्य रज्जूणामुदकाभ्युक्षणं मतम्।
तूलिकाद्युपधानानि रक्तवस्त्रादिकानि च॥ 31॥

तिनकों और तिनकों से बने खिलौने, मूढ़ों आदि पर, काष्ठ तथा काष्ठ से बने सामान—मेज़, कुर्सी, चौकी आदि पर तथा रस्सी और रस्सियों से बने थैले आदि—पर जल के छिड़कने से ही उनकी शुद्धि हो जाती है।

शोषयित्वाऽर्कतापेन प्रोक्षणाच्छुद्धितामियुः।
मार्जार-मक्षिका-कीट-पतङ्ग-कृमि-दर्दुराः॥ 32॥

इसी प्रकार रुई के तकिए, गद्दे और रजाइयां आदि तथा रंगे हुए वस्त्रों को धूप में सुखाने और उन पर जल का छींटा देने से वे शुद्ध हो जाते हैं। मनु महाराज के अनुसार—बिल्ली, मक्खी, कीड़ा, चींटी, पतंग और मेढक आदि का स्पर्श करने पर कोई दोष नहीं लगता।

मेध्यामेध्यं स्पृशन्तोऽपि नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत्।
महीं स्पृष्ट्वाऽऽगतं तोय याश्चाप्यस्याऽऽस्यविप्रुषः॥ 33॥

इसी प्रकार महाराज मनु के अनुसार—पवित्र अथवा अपवित्र पदार्थों को छूने मात्र से ही व्यक्ति अशुद्ध अथवा अपवित्र नहीं हो जाता।

भुक्तोच्छिष्टं तथा स्नेहं नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत्।
ताम्बूलेक्षु-फले चैव भुक्तस्नेहानुलेपने॥ 34॥

महाराज मनु का यह भी विधान है कि आसमान से धरती पर गिरते-बहते जल तथा बोलने पर मुंह से उड़ते थूक-कणों के स्पर्श से भी व्यक्ति अशुद्ध-अपवित्र नहीं होता। इसी प्रकार भोजन का बार-बार लिया गया ग्रास, बार-बार रोटी आदि को चुपड़ने के लिए लिया गया घी-तेल आदि के अतिरिक्त पान, ईख, फल, भोजन के साथ प्रयोग में लाया जा रहा घी आदि भी अपवित्र नहीं होते।

मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टं धर्मतो विदुः।
रथ्याकर्द्दम-तोयानि नावः पन्थास्तृणानि च॥ 35॥

मधुपर्क और सोमलता (गिलोय) के रस में जूठापन नहीं आ पाता। वे सदैव शुद्ध-पवित्र बने रहते हैं। गली, कीचड़, जल, नौका, सड़क और घास-फूस आदि धूप और वायु के संसर्ग में रहने से निरन्तर शद्ध-पवित्र बने रहते हैं, अर्थात् वहां चलने-बैठने तथा यात्रा करने वाले को शुद्धि के लिए स्नान आदि की आवश्यकता नहीं। कोई व्यक्ति कभी किसी गन्दी गली अथवा सड़क पर मात्र चलने से अपवित्र नहीं हो जाता।

मारुतार्केण शुध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च।
अदुष्टाः सन्तता धारा वातोद्धूताश्च रेणवः॥ 36॥

आग में पकी ईंटे, बहती जलधारा तथा वायु से उड़ी धूल भी अशुद्ध नहीं होती। इनके छूने अथवा प्रयोग करने से न तो व्यक्ति अशुद्ध होता है और न ही उसे शुद्धि के लिए किसी प्रायश्चित्त को करने की आवश्यकता पड़ती है।

स्त्रियो वृद्धास्तथा बालाः न दुष्यन्ति कदाचन।
क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते॥ 37॥
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्।
अग्निरापश्च वेदाश्च सोमसूर्यानिलास्तथा॥ 38॥

स्त्रियों, बच्चों तथा वृद्ध पुरुषों से बातचीत करने में कोई दोष नहीं लगता। अतः इनसे बातचीत करने पर किसी अपवित्रता से ग्रस्त होने की आशंका नहीं

करनी चाहिए।

छींकने, थूकने, दांतों में रह गयी जूठन को निकालने, कभी मुख से असत्य निकल जाने पर तथा चाहे-अनचाहे नीच एवं पतित पुरुषों के साथ बातचीत करने पर व्यक्ति को अपने दाएं हांथ से दाएं कान को छूना चाहिए, अर्थात् एक प्रकार से अपने अपराध के लिए पश्चात्ताप करते हुए क्षमा-याचना करनी चाहिए।

टिप्पणी—हमारे विचार में यहां 'स्त्रियों' से वृद्धा स्त्रियां ही अभीष्ट हैं, अन्यथा शास्त्रों में तो सर्वत्र स्त्रियों से दूर रहने का ही निर्देश मिलता है।

जाने-अनजाने हुए अपराध के लिए लोक में 'कान पकड़ने' की प्रथा प्रचलित है, जिसका अर्थ व्यक्ति द्वारा अपराध-स्वीकृति और पुनः आवृत्ति न करने का संकल्प है।

एते सर्वेऽपि विप्राणां श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे।
प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा॥। 39॥
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे सान्निध्यं मनुरब्रवीत्।
देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि॥ 40॥

मनु के अनुसार—अग्नि, जल, वेद, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी देवों का, प्रभास आदि सभी तीर्थों का तथा गंगा आदि पवित्र नदियों का, ब्राह्मण के दाएं कान में निवास है। इस प्रकार दाएं हाथ से दाएं कान को छूने का अर्थ सभी देवों, तीर्थों और नदियों का स्मरण और वन्दन है।

रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत्।
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन वा॥ 41॥

देश में उपद्रव हो जाने पर, विदेश में अवस्थित होने पर, व्याधि से ग्रस्त होने पर तथा व्यसन (विपत्ति) से आक्रान्त होने पर सर्वप्रथम अपनी (शरीर की) रक्षा करनी चाहिए और इस रक्षा में मृदु अथवा दारुण धर्म का उल्लंघन भी होता हो, तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। शरीर होगा, तो धर्म-कार्य भी सम्पन्न होगा। धर्म का साधन शरीर है। अतः धर्म की उपेक्षा करके भी उसकी रक्षा को महत्त्व देना चाहिए—**शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।**

उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्।
आपत्काले तु निस्तीर्णे शौचाचारं विचिन्तयेत्॥
शुद्धिं समुद्धरेत्पश्चात्स्वस्थो धर्मं समाचरेत्॥ 42॥

विपत्ति आने पर सर्वप्रथम अपनी दीनता को दूर करने तथा आत्मा को सबल और समर्थ बनाने का प्रयास करना चाहिए। आत्मा का उद्धार हो जाने पर, अर्थात् संकटकाल के बीत जाने पर धर्म-पालन—शौच तथा आचार के निर्वाह—की चिन्ता करनी चाहिए।

धर्म-पालन में शरीर का क्षय हो जाने पर शरीर से सम्पन्न की जाने वाली बड़ी साधना की सम्भावना समाप्त हो जाती है। अत: भविष्य में उच्च धर्म की रक्षा एवं पालन को देखते हुए वर्तमान में धर्म की होने वाली अल्प उपेक्षा की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

टिप्पणी—शास्त्रों का स्पष्ट कथन है—

नायमात्मा कातरेण लभ्य:।

दुर्बल, क्षीण शरीर एवं मन वाला व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—'A Sound mind in a sound body' स्वस्थ एवं सबल तन में ही स्वस्थ-सबल आत्मा का निवास होता है। अत: शरीर की रक्षा ही परम धर्म है।

॥ इति द्रव्यशुद्धि नामक सप्तम अध्याय ॥

आठवां अध्याय

अकामकृतपापप्रायश्चित्त

गवां बन्धनयोक्त्रेषु भवेन्मृत्युकामतः।
अकामकृतपापस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत्?॥ 1॥

जोतते अथवा बांधते समय अनचाहे किसी गाय-बैल की किसी कारणवश—ऊंचे स्थान से निचले स्थान, गड्ढे आदि में गिरना, चोट लगना, पशुओं का आपस में भिड़ना, किसी रोग से आक्रान्त होना अथवा किसी अधिक बलवान् पशु द्वारा आघात पहुंचाना आदि—मृत्यु हो जाने का प्रायश्चित्त निम्नोक्त रूप से है।

वेद-वेदाङ्गविदुषां धर्मशास्त्रं विजानताम्।
स्वकर्मरतविप्राणां स्वकं पापं निवेदयेत्॥ 2॥

गाय-बैल को अनचाहे अपने हाथों मृत्यु देने वाले व्यक्ति को वेदों, वेदांगों तथा धर्मशास्त्र में निष्णात पण्डित एवं अपने नियत कर्म के निर्वहण में जागरूक-तत्पर ब्राह्मणों के पास जाकर दुखी स्वर में अपने द्वारा हुए पाप की पूरी घटना निवेदित करनी चाहिए।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि उपस्थानस्य लक्षणम्।
उपस्थितो हि न्यायेन व्रतादेशनमर्हति॥ 3॥

शास्त्रज्ञ एवं आचारनिष्ठ ब्राह्मणों के पास जाने तथा उनसे अपने पाप की कहानी कहने और उनसे प्रायश्चित्त पूछने की विधि इस प्रकार है—इस विधि को अपनाने वाला श्रद्धालु व्यक्ति ही उनके द्वारा व्रतोपदेश के निर्देश का अधिकारी होता है।

सद्यो निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः।
भुञ्जानो वर्धयेत्पापं पर्षद्यत्र न विद्यते॥ 4॥

जहां पाप के प्रायश्चित्त के निर्देश के लिए विद्वानों की सभा मनोनीत तथा कार्यरत हो, वहां तो अपने पाप का निवेदन परिषद् के समक्ष ही करना चाहिए। जहां ऐसी किसी परिषद् की व्यवस्था न हो, वहां विद्वानों की खोज करके उनके पास जाना चाहिए। इस खोज और जाने में भले ही कितना समय क्यों न लग जाये, कार्य-सम्पन्न किये बिना उससे पूर्व भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। भोजन कर लेने पर पाप के परिमाण में वृद्धि हो जाती है।

संशये तु न भोक्तव्यं यावत्कार्यविनिश्चयः।
प्रमादश्च न कर्तव्यो यथैवासंशयस्तथा॥ 5॥

पाप का सन्देह हो जाने पर सभी कार्यों को छोड़कर वस्तुस्थिति का सही-सही निर्णय करना चाहिए। सन्देह की निवृत्ति से पूर्व भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रमाद क्षम्य नहीं होता। पूर्ण मनोयोग से प्रवृत्त होकर सन्देह का निवारण करने के उपरान्त ही भोजन करने के लिए बैठना चाहिए।

कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विवर्द्धते।
स्वल्पं वाऽथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत्॥ 6॥

पाप करने अथवा हो जाने पर उसे कदापि छिपाना नहीं चाहिए; क्योंकि पाप को छिपाने से उसकी मात्रा में और अधिक वृद्धि हो जाती है। पाप बड़ा हो अथवा छोटा, अर्थात् किसी भी रूप में हो, तत्काल धर्माचार्यों की सेवा में उपस्थित होकर उसे विज्ञापित करना चाहिए। सत्य तो यह है कि पाप की स्वीकृति तथा अधिकारी विद्वानों के समक्ष विज्ञप्ति भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त ही है।

ते हि पापे कृते वैद्या हन्तारश्चैव पाप्मनाम्।
व्याधितस्य यथा वैद्या बुद्धिमन्तो रुजापहाः॥ 7॥

धर्माचार्यों को रोगियों को रोगमुक्त करने में समर्थ, बुद्धिमान् एवं कुशल वैद्यों के समान पापियों को पापों से मुक्त करने में समर्थ एवं प्रभावी महापुरुष समझकर उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव दिखाना चाहिए।

प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने ह्रीमान् सत्यपरायणः।
मृदुरार्जवसम्पन्नः शुद्धिं गच्छेत मानवः॥ 8॥

महर्षि पराशर ने बहुत ही बढ़िया, उच्च कोटि की, सार्थक एवं मूल्यवान् बात

यह कही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने द्वारा किये किसी पाप का प्रायश्चित्त करने पर उस पाप के फल-भोग से मुक्त नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता, तो फिर—''पाप करो और प्रायश्चित्त करके उसके दण्डभोग से निवृत्ति पा लो''—का क्रम बन जाता। प्रायश्चित्त करने पर निम्नोक्त गुणों वाला व्यक्ति पाप के फल-भोग से मुक्ति पाने में सफल होता है—

1. लज्जावान्—पाप हो जाने पर आत्मग्लानि अनुभव करने वाला,

2. सत्यपरायण—अपने किसी दोष को छिपाने में विश्वास न रखने वाला, सदैव सत्य का पालन करने वाला,

3. मृदु, अर्थात् भावुक, अपने पाप के लिए अपने को कोसने वाला तथा

4. ऋजु, अर्थात् सरल स्वभाव का व्यक्ति—धर्माचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क अथवा वाद-विवाद न करने वाला, दूसरे शब्दों में आस्थावान् व्यक्ति। इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही प्रायश्चित्त से शुद्धि-लाभ कर पाता है।

सचैलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः।
क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा ततः पर्षदमाव्रजेत्॥ 9॥

पाप कर्म करने वाला व्यक्ति क्षत्रिय हो अथवा वैश्य, दोनों को ही वस्त्रों सहित स्नान करके, गीले वस्त्रों को धारण किये हुए ही धर्माचार्यों के समक्ष उपस्थित होकर अपने पाप के सम्बन्ध में निवेदन करना चाहिए।

उपस्थाय ततः शीघ्रमार्तिमान् धरणीं व्रजेत्।
गात्रैश्च शिरसा चैव न च किञ्चिदुदाहरेत्॥ 10॥

धर्माचार्य ब्राह्मणों के दर्शन होते ही झटपट अपने चेहरे पर दुःख और पश्चात्ताप के भावों को लाते हुए, धरती पर सिर रखकर और देह को फैलाकर 'साष्टांग दण्डवत् प्रणाम' की मुद्रा में लेट जाना चाहिए और मुख से कुछ भी नहीं बोलना चाहिए।

सावित्र्याश्चापि गायत्र्याः सन्ध्योपास्त्याग्निकार्ययोः।
अज्ञानात् कृषिकर्तारो ब्राह्मणा नामधारकाः॥ 11॥

गायत्री अथवा सावित्री मन्त्र का नियमित जाप न करने—इन दिव्य मन्त्रों से अपरिचित, नियमित रूप से सन्ध्यावन्दन तथा अग्निहोत्र आदि को भी निष्पन्न न करने वाले तथा धन के लोभ में ब्राह्मणवृत्ति—भिक्षा से जीवन-निर्वाह—को छोड़कर

मूढ़तावश कृषि कर्म आदि में प्रवृत्त होने वाले ब्राह्मणों को नाम-मात्र का ब्राह्मण समझना चाहिए, अर्थात् उन्हें तुच्छ मानकर उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव नहीं दिखाना चाहिए और न ही उन्हें दान-दक्षिणा आदि से उपकृत करना चाहिए।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्त्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ 12॥

ब्राह्मणों की परिषद् का अर्थ भी विद्वान्, आचारपरायण, धर्मनिष्ठ, कर्मकाण्डी तथा ज्ञानवान् ब्राह्मणें की सभा हैं। बिना व्रत वाले, मन्त्र-ज्ञान न रखने वाले तथा जाति मात्र से ही अपनी आजीविका चलाने वाले हज़ार ब्राह्मण भी इकट्ठे हो जायें, तो उनकी मण्डली 'धर्मसभा' नहीं कही जा सकती, अर्थात् ऐसे—विद्या तथा कर्म से हीन—ब्राह्मणों को केवल ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने से प्रायश्चित्त आदि के निर्देश देने का अधिकारी नहीं माना जा सकता। जन्म के साथ कर्म का होना अनिवार्य योग्यता है।

यद्वदन्ति तमोमूढा मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृनधिगच्छति॥ 13॥

यदि अज्ञानी तथा धर्म के तत्त्व से अपरिचित केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने से अपने को अधिकारी मानने वाले मूर्ख ब्राह्मण धर्म-अधर्म के विवेचन की, पाप के प्रायश्चित्त को बताने की अनधिकार चेष्टा करते हैं, तो पापी का पाप सौ गुना होकर प्रायश्चित्त बताने वाले मूर्ख एवं अनधिकारी ब्राह्मणों को लिपट जाता है, उनका पहले की अपेक्षा और अधिक पतन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि विद्या-विहीन, कर्म-रहित ब्राह्मणों को अपने पास आये यजमानों का सही पथ-प्रदर्शन करना चाहिए उन्हें अपने पाप के प्रायश्चित्त को जानने के लिए वेद-विद्या में निपुण, आचारवान् अग्निहोत्री ब्राह्मणों के पास भेजना चाहिए। ऐसा न करने वाले अहम्मन्य ब्राह्मण नरकगामी होते हैं; क्योंकि उनके द्वारा कुछ भी बताना शास्त्रसम्मत न होने से सर्वथा कल्पना मात्र होता है अथवा सुना-सुनाया होता है, जिसे अंधेरे में तीर मारना-जैसा कहा जा सकता है।

अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः।
प्रायश्चित्ती भवेत्पूतः किल्बिषं पर्षदि व्रजेत्॥ 14॥

धर्मशास्त्र को बिना जाने-विचारे अपनी शरण में आये यजमान को उसके

पाप के प्रायश्चित्त का निर्देश करने वाले ब्राह्मण के निर्देश का पालन करने से, अर्थात् निर्दिष्ट प्रायश्चित्त को श्रद्धापूर्वक पूरा करने से यजमान तो पापमुक्त हो जाता है, परन्तु उस यजमान का पाप अज्ञानी होते हुए भी अपने को ज्ञानी मानने वाले ब्राह्मण अथवा 'ब्राह्मण परिषद्' के सभी ब्राह्मणों को लग जाता है।

अभिप्राय यह है कि धर्मशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् ही पाप के प्रायश्चित्त को बताने के सच्चे अधिकारी हैं। द्वितीय, सदैव धर्मशास्त्र (का अध्ययन करके) के आधार पर ही पाप-विशेष के प्रायश्चित्त-विशेष का निर्देश करना उचित है, न कि जो मन में आ जाये, वही कह देना। ऐसा करने वाले की मान्यता एवं प्रामाणिकता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

चत्वारो वा त्रयो वाऽपि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरैस्तु सहस्त्रशः॥ 15॥

वेदविद्या में पारंगत, उच्चचरित्र, धर्मपरायण, कर्तव्य-कर्म के प्रति सदैव जागरूक एवं कर्मकाण्डी तीन-चार ब्राह्मणों के सन्दिग्ध विषयों में प्रकट किये गये विचारों का सैकड़ों-हज़ारों मूर्खों के विचारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व होता है।

प्रमाणमार्गं मार्गन्तो ये धर्मं प्रवदन्ति वै।
तेषामुद्विजते पापं सद्भूतगुणवादिनाम्॥ 16॥

धर्मशास्त्र का गहन अध्ययन तथा उपयुक्त विवेचन करके उसके आधार पर धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का तथा करणीय-अकरणीय का निर्धारण करने वाले सत्य-युगी महापुरुषों से पाप डरता है, वह उनसे कोसों दूर भागता है, उनके पास फटकने का साहस नहीं जुटा पाता।

अभिप्राय यह है कि धर्मशास्त्र के आधार पर एवं धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलने वाले विद्वान् पापकर्म कर ही नहीं सकते। वे सदैव निश्चित धर्म के मार्ग पर ही अग्रसर रहते हैं।

यथाऽश्मनि स्थितं तोयं मारुतार्केण शुध्यति।
एवं परिषदादेशान् नाशयेत्तस्य दुष्कृतम्॥ 17॥

जिस प्रकार पत्थर पर पड़ी जलबिन्दुएं पवन तथा सूर्य किरणों से सूख जाती हैं, पत्थर पर जल का कोई चिह्न अथवा गीलापन रह नहीं पाता, उसी प्रकार विद्वान्

ब्राह्मणों की परिषद् द्वारा पाप के प्रक्षालन के लिए निर्दिष्ट प्रायश्चित्त में यदि कोई दोष रह भी जाता है, तो वह धर्माचार्यों की सत्यनिष्ठा के प्रभाव से अप्रभावी हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि उपदेष्टा विद्वान् ब्राह्मणों को किसी प्रकार का कोई दोष नहीं लगता।

नैव गच्छति कर्तारं नैव गच्छति पर्षदम्।
मारुतार्कादि-संयोगात् पापं नश्यति तोयवत्॥ 18॥

जिस प्रकार वायु तथा धूप के प्रभाव से जल निश्शेष हो जाता है, उसी प्रकार विद्वानों की धर्मसभा द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त से पापी का पाप भी समाप्त हो जाता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि दोनों—प्रायश्चित्त पूछने और करने वाला यजमान तथा बताने वाले विद्वान् धर्माचार्य—ही पाप से लिप्त नहीं होते; क्योंकि दोनों अपने कर्तव्य-कर्म का निर्वाह कर चुके होते हैं।

चत्वारो वा त्रयो वाऽपि वेदवन्तोऽग्निहोत्रिणः।
ब्राह्मणानां समर्था ये परिषत् साऽभिधीयते॥ 19॥

वेद-विद्या में निष्णात अग्निहोत्री तीन-चार ब्राह्मणों की मण्डली का नाम ही 'परिषद्' अथवा 'सभा' है। सभी ब्राह्मणों की अपेक्षा धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ, सदाचारी एवं अग्निहोत्री ब्राह्मण ही पाप के प्रायश्चित्त का निर्णय देने में समर्थ होते हैं।

अनाहिताग्नयो येऽन्ये वेद-वेदाङ्गपारगाः।
पञ्च त्रयो वा धर्मज्ञाः परिषत् सा प्रकीर्तिता॥ 20॥

वेद-विद्या (वेदों तथा वेदांगों) में पारंगत, परन्तु अग्निहोत्रादि में अनियमित अथवा उसकी उपेक्षा करने वाले तीन-पांच ब्राह्मणों की मण्डली भी परिषद् कहला सकती है।

अभिप्राय यह है कि यदि विद्वान् ब्राह्मण अग्निहोत्र आदि को महत्त्व नहीं देते, तो भी उनकी विद्वत्ता के कारण उनके मत की उपेक्षा न करके, उसे समुचित महत्त्व देना चहिए।

मुनीनामात्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्।
वेदव्रतेषु स्नातानामेकाऽपि परिषद् भवेत्॥ 21॥

ब्रह्म-विद्या एवं आत्मतत्त्व का ज्ञाता अथवा विविध प्रकार के यज्ञ-यागादि

को सम्पन्न कराने में कुशल, आचारपरायण एवं दृढ़व्रती ब्राह्मण अथवा वेद-वेदांगों का पारंगत विद्वान् तथा सच्चे अर्थों में सन्तोषी, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण अकेला ही परिषद् है, अर्थात् केवल इन तीनों का वचन परिषद् के पार्षदों के निर्णय के समान समादरणीय है। परिषद् के तीन, चार अथवा पांच पार्षदों के मिल-बैठ और सोच-विचार कर लिये गये निर्णय के समान ही इन अकेले तत्त्वद्रष्टा अथवा पुरोहित अथवा प्रकाण्ड पण्डित के वचन को महत्त्व देना चाहिए। इन्हें अकेले को ही इस सम्बन्ध में पूर्ण समर्थ तथा सर्वथा अधिकारी समझना चाहिए।

पञ्च पूर्वं मया प्रोक्तास्तेषां चाऽसम्भवे त्रयः।
स्ववृत्तिपरितुष्टा ये परिषत् सा प्रकीर्तिता॥ 22॥

तपोधन महर्षियो! अब तक मैंने आपके समक्ष पाप के प्रायश्चित्त का निर्देश करने में समर्थ एवं अधिकारी पांच प्रकार की परिषदों का वर्णन किया है— 1. वेद-विद्या में कुशल एवं अग्निहोत्री तीन अथवा चार ब्राह्मणों की मण्डली, 2. अग्निहोत्री न होने पर भी वेद-वेदांग में निपुण तीन अथवा पांच ब्राह्मणों की मण्डली, 3. अकेला आत्मतत्त्वज्ञ मुनि, 4. अकेला पुरोहित—सभी यज्ञ-यागादि को सम्पन्न कराने में समर्थ—तथा 5. अकेला वेदव्रत स्नातक ब्राह्मण।

इन पांचों परिषदों को शास्त्रसम्मत समझना चाहिए। इन पांचों में प्रथम दो की सुलभता न होने पर अन्तिम तीन को प्रमाण मानना चाहिए, अर्थात् तीन-चार अथवा पांच विद्वान् ब्राह्मणों को जुड़ना, मिल बैठना सम्भव न हो, तो एक ही मुनि, पुरोहित अथवा वेदज्ञ ब्राह्मण से काम चलाना चाहिए। इनके सुलभ न होने की स्थिति में अपनी वृत्ति—यथाप्राप्त— से सन्तुष्ट रहने वाले, उदात्तचरित्र तथा वेद-विद्या में निपुण किसी भी ब्राह्मण को परिषद् का रूप दिया जा सकता है, अर्थात् उसके द्वारा दिये गये निर्णय को ग्रहण कर पापमुक्त एवं शुद्ध बना जा सकता है।

अत ऊर्ध्वं तु ये विप्राः केवलं नामधारकाः।
परिषत्त्वं न तेष्वस्ति सहस्रगुणितेष्वपि॥ 23॥

मनीषी ब्राह्मणो! उपर्युक्त गुणों—वेद-शास्त्र का ज्ञान अग्निहोत्र एवं यज्ञ-यागादि को सम्पन्न करना, आत्मरति, ब्रह्मलीनता, रागद्वेष-रहित होना तथा तप-साधना आदि—से सर्वथा रहित ब्राह्मणों को, तो केवल नाममात्र का ही ब्राह्मण समझना चाहिए। ऐसे विद्याविहीन हज़ारों ब्राह्मणों के संघ को भी परिषद् का गौरव, अर्थात् पाप के प्रायश्चित्त के निर्देश का अधिकार नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः महत्त्व संख्या का नहीं, अपितु गुणों का ही होता है—**गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते।**

यथा काष्ठमायो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ 24 ॥

जिस प्रकार लकड़ी का हाथी और चमड़े का मृग नाममात्र के ही हाथी और मृग हैं, बच्चों के खिलौने हैं, उसी प्रकार वेद-शास्त्रों के ज्ञान से रहित ब्राह्मण भी केवल ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हो जाने से आदरणीय नहीं हो जाता। अशिक्षित ब्राह्मण भी काष्ठ-हस्ती और चर्म-मृग के समान नाममात्र के ब्राह्मण हैं। ऐसे ब्राह्मणों की समाज में कोई उपयोगिता ही नहीं है।

ग्रामस्थानं यथा शून्यं यथा कूपस्तु निर्जलः।
यथा हुतमनग्नौ च नामन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ 25 ॥

जिस प्रकार मनुष्यों से रहित ग्राम आवासशून्य कहलाता है, जल के अभाव में कूप अथवा नदी व्यर्थ माने जाते हैं, जिस प्रकार भस्म—बुझी आग—में डाली गयी आहुति व्यर्थ है, उसी प्रकार मन्त्रज्ञान-रहित ब्राह्मण का जीवन भी व्यर्थ है। विद्याविहीन ब्राह्मण की संसार में कोई भी उपयोगिता नहीं है।

यथा षण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौरूषराऽफला।
यथा चाऽज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ 26 ॥

जिस प्रकार नपुंसक सन्तानोत्पादन में असमर्थ—वीर्य में उत्पादक कीटाणु न रखने वाला अथवा सम्भोग में असमर्थ—पुरुष स्त्रियों के लिए व्यर्थ है, जिस प्रकार ऊसर भूमि कृषिकार्य के लिए अनुपयुक्त है, जिस प्रकार मूर्ख (अशिक्षित) ब्राह्मण को दिया गया दान व्यर्थ है, उसी प्रकार वेद-विद्या से रहित, अर्थात् वेदमन्त्रों के उच्चारण में अकुशल ब्राह्मण का जन्म भी सर्वथा व्यर्थ है।

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्विद्धि संस्कारैर्मन्त्रपूर्वकैः ॥ 27 ॥

जिस प्रकार सोच-विचारकर और ठीक ढंग से अनेक रंगों के किये गये संयोजन से चित्रकला उभरने लगती है, उसी प्रकार विधि-विधान से जातकर्म आदि सभी संस्कारों को करने से ब्रह्मतेज भी प्रस्फुटित होने लगता है।

अभिप्राय यह है कि अपने शिशु के गुणों के सम्यक् विकास के लिए माता-पिता को सभी संस्कारों को विधिपूर्वक सम्पन्न करने को पर्याप्त महत्त्व देना चाहिए। बालक की क्षमताओं के विकास में संस्कारों का बहुत बड़ा योगदान रहता है।

प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति ये द्विजा नामधारकाः।
ते द्विजाः पापकर्माणः समेता नरकं ययुः॥ 28॥

नाममात्र के ब्राह्मणों—वेद-ज्ञान से रहित, अग्निहोत्र आदि न करने वाले तथा चरित्र एवं आचरण को गौरव न देने वाले, ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने को ही एक उपलब्धि मानने वालों को पाप के प्रायश्चित्त के निर्देश की अनधिकार चेष्टा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। उन्हें अपनी अकुशलता, अपात्रता और सीमा को भली प्रकार समझना और स्वीकार करना चाहिए। ऐसा न करने वाले, अर्थात् पाप के प्रायश्चित्त की व्यवस्था देने वाले घोर पाप करते हैं और अपने लिए आप ही नरक का द्वार खोलते हैं। ऐसे अहंमन्य एवं मूर्ख ब्राह्मण नरकगामी होते हैं।

ये पठन्ति द्विजा वेदं पञ्चयज्ञरताश्च ये।
त्रैलोक्यं तारयन्त्येते पञ्चेन्द्रियरता अपि॥ 29॥

वेद-मन्त्रों का सस्वर पाठ करने वाले, अर्थात् उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित का सही एवं पूर्ण ज्ञान रखने वाले तथा नित्य-प्रति पञ्च यज्ञों—**काक** बलि, **श्वान** बलि, **गोग्रास, ब्राह्मण** भोजन तथा **देवाराधन** का निर्वहण करने वाले, अर्थात् विद्वान् तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मण पांचों (कर्म) इन्द्रियों—कर, चरण, वाणी, गुदा तथा शिश्न—से सांसारिक कार्यों को सम्पन्न करते हुए, अर्थात् गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी तीनों लोकों का उद्धार करने में पूर्ण समर्थ होते हैं।

सम्प्रणीतः श्मशानेषु दीप्तोऽग्निः सर्वभक्षकः।
तथा च वेदविद् विप्रः सर्वभक्षोऽपि दैवतम्॥ 30॥

जिस प्रकार श्मशान की अग्नि शव का दाह करने पर भी पवित्र बनी रहती है, उसी प्रकार वेदशास्त्र का ज्ञाता एवं कर्मकाण्डी ब्राह्मण भिक्षा में प्राप्त किसी अभक्ष्य पदार्थ का सेवन कर लेने के उपरान्त भी शुद्ध-पवित्र बना रहता है। उसे कभी किसी प्रकार का कोई दोष नहीं लगता।

अमेध्यानि तु सर्वाणि प्रक्षिप्यन्ते यथोदके।
तथैव किल्विषं सर्वं प्रक्षिपेच्च द्विजानले॥ 31॥

जिस प्रकार पवित्र-अपवित्र, शुद्ध-अशुद्ध तथा गन्दा-मैला कुछ भी फेंके जाने पर जल सदैव शुद्ध-पवित्र ही बना रहता है, उसी प्रकार ब्राह्मण को अग्नि-रूप तथा जल-रूप मानकर अपने द्वारा किये अथवा हो गये सभी पापकर्मों को ब्राह्मण के सामने प्रकट कर देना चाहिए।

गायत्रीरहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत्।
गायत्रीब्रह्मतत्त्वज्ञाः सम्पूज्यन्ते जनैर्द्विजाः ॥ 32 ॥

इस संसार में ब्रह्मतत्त्व एवं गायत्रीतत्त्व के वेत्ता, अर्थात् ज्ञानी एवं कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को पूजा जाता है और पूजा जाने योग्य होने पर ही पूजा जाना चाहिए। प्रतिदिन गायत्री मन्त्र का जाप न करने वाले ब्राह्मणों को तो शूद्र से भी निकृष्ट एवं अधम ही समझना चाहिए।

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥ 33 ॥

शीलरहित, अर्थात् आचारहीन होने पर भी ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए, अर्थात् उसे दान-दक्षिणा आदि से सम्मानित करना चाहिए। इसके विपरीत शूद्र के जितेन्द्रिय एवं आचारसम्पन्न होने पर भी उसे ब्राह्मण के समकक्ष आदर कभी नहीं देना चाहिए।

अपने मन्तव्य के समर्थन में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—दूध देने वाली गाय के द्वारा लातें मारे जाने पर लोग उसकी लातें खाकर भी उसे दोहते हैं, इसके विपरीत गधी के सीधी-सादी होने पर भी लोग उसे दोहने नहीं लग जाते।

टिप्पणी—जन्म की अपेक्षा गुणों और चरित्र को महत्त्व देने के रूप में सत्य का पक्ष लेते-लेते न जाने कैसे महर्षि पराशर अचानक पलटा खा गये। अब वे मूर्ख ब्राह्मण की वकालत करने के साथ-साथ बेचारे शूद्र के गुणों की उपेक्षा भी करने लगे। अभी तक वे मनु आदि स्मृतिकारों से हटकर क्रान्तिकारी युगद्रष्टा के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बनाने लगे थे, परन्तु उनके इस कथन ने तो सब कुछ गुड़-गोबर कर दिया और उन्हें भी रूढ़िवादी स्मृतिकारों की पंक्ति में ला खड़ा किया। आख़िर मनु ने भी, तो यही कहा है—जिस प्रकार दूध देने वाली गधी, दूध न देने वाली गाय की तुलना नहीं कर सकती, उसी प्रकार शिक्षित होने पर भी शूद्र अशिक्षित ब्राह्मण की समता नहीं कर सकता। लगता है कि महर्षि पराशर भी वैचारिक संक्रमण के शिकार हो गये हैं, अन्यथा अशिक्षित ब्राह्मण की काष्ठमय हस्ती और चर्ममय मृग से तुलना करने वाला—**दुःशीलोऽपि द्विजःपूज्यः** कदापि न लिखता।

धर्मशास्त्ररथाऽऽरूढा वेदखड्गधरा द्विजाः।
क्रीडार्थमपि यद् ब्रूयुः स धर्मः परमः स्मृतः ॥ 34 ॥

अब महर्षि पराशर ब्राह्मण को वेदशास्त्रों का दुरुपयोग करने की भी खुली अनुमति देते हुए कहते हैं—धर्मशास्त्र-रूपी रथ पर सवार और वेद-रूपी खड्ग को हाथ में धारण करने वाला ब्राह्मण यदि वेद-शास्त्रोक्त वचनों के अर्थ का अनर्थ भी करता है, अपने मनोविनोद के लिए अनर्गल भी बक देता है, तो उसे भी शास्त्रसम्मत एवं परमधर्म मान लेना चाहिए, अर्थात् दूध में मक्खी का पड़ा होना दिखाई देने पर भी ब्राह्मण द्वारा "मक्खी का न होना" कहने पर मक्खी सहित दूध पी जाना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मण कहता है। भले ही वह मनोविनोद के लिए क्यों न कहे, ब्राह्मण का वचन तो धर्म-रूप है। अपने वचन को सत्य सिद्ध करने के लिए उसके पास धर्मशास्त्र और स्वयं वेद हैं। भले ही वह जान-बूझकर इनका दुरुपयोग ही क्यों न करे—उसके वचन को तो प्रमाण मानना ही चाहिए—कैसा उत्कृष्ट विधान तथा कैसी बढ़िया व्यवस्था है?

चातुर्वैद्योऽविकल्पी च ह्यङ्गविद्धर्मपाठकाः।
त्रयश्चाश्रमिणो मुख्याः पर्षदेशा दशावरा॥ 35॥

निम्नोक्त व्यवसायों अथवा कार्यों से जुड़े दस अथवा उससे अधिक प्रतिनिधि सदस्यों की मण्डली 'परिषद्' कहलाती है—

1. चारों वेदों के ज्ञाता विद्वान्, 2. शास्त्रों के अर्थ और तात्पर्य को सर्वथा सन्देह-रहित बनाकर प्रस्तुत करने में कुशल विद्वान्, 3. वेदों के छह अंगों—शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष (वेदों के अर्थ एवं तात्पर्य को सुनिश्चित रूप देने में सहायक होने के कारण ये वेदांग कहलाते हैं)—के मर्मज्ञ विद्वान्, 4. धर्मशास्त्र के अध्यापक, अर्थात् कुशल विवेचक एवं प्रवक्ता तथा 5. तीनों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—के निर्वाचित अथवा नामांकित प्रतिनिधि।

इस मण्डली के सदस्यों की संख्या दस से कम नहीं होनी चाहिए, अर्थात् चतुर्वेदों के विद्वान् दो, विवेचक विद्वान् दो, वेदांगों में निपुण विद्वान् दो और धर्मशास्त्र के प्राध्यापक दो तथा तीन आश्रमों के एक-एक प्रतिनिधि को मिलाकर तीन। इस प्रकार इन सबकी कुल संख्या (2+2+2+2+3=11) ग्यारह बनती है। परिषद् का ऐसा स्वरूप ही एक आदर्श स्वरूप कहलायेगा।

राज्ञश्चाऽनुमते स्थित्वा प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्।
स्वयमेव न कर्तव्यं कर्तव्या स्वल्पनिष्कृतिः॥ 36॥

महर्षि पराशर न जाने यहां क्यों ब्राह्मण को पतन के कगार पर खड़ा करके उसे नीचे धकेलने का आयोजन कर रहे हैं—ब्राह्मण को अपने पास अपने पाप का

प्रायश्चित्त पूछने के लिए आये यजमान को राजा की आज्ञा से ही प्रायश्चित्त का निर्देश करना चाहिए। छोटे-मोटे पाप के साधारण प्रायश्चित्त का निर्देश करते समय ब्राह्मण राजा से आज्ञा लेने के आदेश की उपेक्षा भले ही कर दे, परन्तु बड़े पाप के लिए अपेक्षित बड़े प्रायश्चित्त के निर्देश से पूर्व, तो उसके लिए राजा की अनुमति लेना अनिवार्य ही समझना चाहिए।

टिप्पणी—बड़े पाप के प्रायश्चित्त की व्यवस्था से पूर्व ब्राह्मण पर राजा की अनुमति लेने की शर्त लगाना धर्म पर शासन को बलवान् एवं प्रभावी बनाना है, दण्ड-भय को धर्म-भय से प्रधानता देना है। दूसरे शब्दों में ब्राह्मण द्वारा दी गयी व्यवस्था को लागू कराने का दायित्व राजा पर डालना है। इसे राजा के समक्ष ब्राह्मण का आत्मसमर्पण ही माना जायेगा; क्योंकि ब्राह्मण को यह विश्वास ही नहीं कि उसके द्वारा निर्दिष्ट कठोर प्रायश्चित्त को राजा पापकर्म स्वीकार करेगा भी कि नहीं? ब्राह्मण के पास तो बलपूर्वक कुछ कर पाने का कोई अधिकार भी नहीं। अत: उसे अपने को प्रभावी बनाने के लिए राजदण्ड की शरण में जाना पड़ेगा। बस, यहीं उसकी सम्प्रभुता द्वितीय स्तर पर आ जायेगी। राजा जो चाहेगा, करा लेगा, 'जैसा मुख वैसी चपत' की उक्ति चरितार्थ हो जायेगी, शास्त्र निष्पक्ष नहीं रह पायेगा। शास्त्र का निर्देश तो यह होना चाहिए कि राजा के लिए ब्राह्मण द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था का प्रजाजनों द्वारा पालन करना अनिवार्य कर्तव्य-कर्म है। ब्राह्मण को व्यवस्था देने में स्वतन्त्र और राजा को इस व्यवस्था का पालन कराने में परतन्त्र बनाना ही वाञ्छनीय था, परन्तु महर्षि पराशर ने विपरीत दिशा ग्रहण की है। उन्होंने ब्राह्मण को राजा के अधीन बना दिया है।

आज के सन्दर्भ में विश्लेषण करें, तो स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। न्यायपालिका (Judiciary) को कार्यपालिका (Executive) के अधीन बनाने को विवेकसम्मत नहीं कहा जायेगा। जिस दिन न्यायपालिका कार्यपालिका के अधीन कार्य करने लगेगी, उस दिन सभी निर्णय पक्षपातपूर्ण होने लगेंगे। ब्रिटिश भारत में यही तो होता था। स्वतन्त्रता सेनानियों का अपराध सिद्ध न होने पर भी न्यायालयों में वकीलों को उन्हें दोषी प्रमाणित करना अथवा मानना पड़ता था और न्यायमूर्ति कहलाने वाले न्यायाधीशों को उन्हें फांसी के फन्दे पर लटकाना पड़ता था; क्योंकि ब्रिटिश शासक यही चाहते थे। न्याय की गुहार मात्र एक विडम्बना थी। स्वतन्त्र भारत में यह स्थिति बदली है। आज न्यायपालिका स्वायत्त संस्थान (Autonomous Body) है। कार्यपालिका (सरकार) न्यायपालिका का सारा ख़र्च अवश्य वहन करती है, न्यायाधीशों की नियुक्ति, उन्नति और स्थानान्तरण सम्बन्धी नियम भी

बनाती है, परन्तु उन्हें लागू करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के पास सुरक्षित रहता है। यही स्थिति महर्षि पराशर से अपेक्षित थी, परन्तु उन्होंने ब्राह्मण का अवमूल्यन कर दिया है, जो सचमुच खटकने वाली स्थिति है।

ब्राह्मणांस्तानतिक्रम्य राजा कर्त्तुं यदिच्छति।
तत्पापं शतधा भूत्वा राजानमनुगच्छति॥ 37॥

पापकर्म करने वाले व्यक्ति द्वारा धर्मशास्त्र के पण्डित सदाचारी विद्वानों की उपेक्षा करके, अर्थात् उनसे विचार-विमर्श किये बिना ही स्वयं प्रायश्चित्त का निर्णय करने वाले व्यक्ति का पाप कभी नहीं धुलता। वह व्यक्ति भी शुद्ध और पापमुक्त नहीं होता, अपितु उसका पाप सौ गुना बढ़कर स्वयं उसे तथा उसके साथ ही देश के शासक को भी पीड़ित करता है। अत: राजा को अपने हित में ही अपने पाप के प्रायश्चित्त का निर्धारण करने वालों को दण्डित एवं हतोत्साहित करना चाहिए, अन्यथा उसे पापी के पाप के दण्ड का सहभागी बनने को उद्यत रहना चाहिए।

प्रायश्चित्तं सदा दद्याद् देवतायतनाग्रतः।
आत्मकृच्छ्रं ततः कृत्वा जपेद् वै वेदमातरम्॥ 38॥

ब्राह्मण को अपने पाप का प्रायश्चित्त पूछने के लिए अपने पास आने वाले व्यक्ति से सैदव देवमन्दिर में ही भेंट करनी चाहिए और देवविग्रहों के समक्ष ही प्रायश्चित्त की व्यवस्था देनी चाहिए।

प्रायश्चित्त की व्यवस्था देने के उपरान्त ब्राह्मण को आत्मकृच्छ्र व्रत करके अधिकाधिक संख्या में वेदमाता गायत्री का जाप करना चाहिए।

सशिखं वपनं कृत्वा त्रिसन्ध्यमवगाहनम्।
गवां मध्ये वसेद् रात्रौ दिवा गाश्चाऽप्यनुव्रजेत्॥ 39॥

गोहत्या-जैसे जघन्य पाप के प्रायश्चित्त का निर्देश करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—गोहत्या—करने अथवा जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे हो जाने—के दोषी व्यक्ति को अपने पाप को सार्वजनिक करने के लिए शिखा-सहित सिर के केशों का मुण्डन कराना चाहिए तथा प्रतिदिन तीन—प्रातः मध्याह्न तथा सायं—समय स्नान करना चाहिए। गोघाती को रात्रि में गोशाला में सोना चाहिए और दिन में गायों के पीछे भटकना चाहिए।

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्।
न कुर्वीताऽऽत्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ 40 ॥

गोघाती को गरमी, वर्षा तथा सर्दी की ऋतुओं में निरन्तर उष्ण वायु (लू) अथवा शीत लहर के प्रचण्ड रूप धारण करने पर तथा आंधी-तूफ़ान और वर्षा वेग के आने पर भी यथाशक्ति गायों की रक्षा की पूर्ण व्यवस्था किये बिना अपने प्राणों की रक्षा के सम्बन्ध में सोचना तक नहीं चाहिए।

आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रे खलेऽथवा।
भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ 41 ॥

गोघाती को अपने अथवा किसी दूसरे के खेत में गाय के घास-उपज आदि को खाता-चरता अथवा उजाड़ता हुआ, अपने बछड़े को दूध पिलाता देखकर गाय को हटाना-रोकना तो दूर, किसी को इस सम्बन्ध में कुछ कहना तक नहीं चाहिए। उसे इस सबको सर्वथा अनदेखा ही कर देना चाहिए और अपना मुख बन्द किये रखना चाहिए और गाय को मनमानी करने देनी चाहिए। इसके लिए गाय का स्वामी अथवा खेत का स्वामी खरी-खोटी सुनाये, तो भी शान्त रहकर सुन लेना चाहिए। यहां तक कि स्वामियों द्वारा मार-पीट करने पर भी सर्वथा शान्त रहना चाहिए। इसे ही गाय की सच्ची सेवा समझनी चाहिए।

पिबन्तीषु पिबेत्तोयं संविशन्तीषु संविशेत्।
पतितां पङ्कमग्नां वा सर्वप्राणैः समुद्धरेत् ॥ 42 ॥

गोघात का प्रायश्चित्त करने के रूप में गायों की सेवा करने वाले व्यक्ति को गायों के जल पी लेने के उपरान्त ही स्वयं जल ग्रहण करना चाहिए, उसे गायों के सो जाने पर विश्राम करना, जागने पर जागना, बैठने पर बैठना और चलने पर चलना चाहिए, अर्थात् उसे गायों को अपनी इच्छानुसार न चलाकर स्वयं उनकी गतिविधि का अनुसरण करना चाहिए। चलती-फिरती किसी गाय के कीचड़ में धंस जाने पर प्रायश्चित्ती को अपने प्राणों को दांव पर लगाकर भी उसे कीचड़ से बाहर निकालना और उसका बचाव करना चाहिए।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा यस्तु प्राणान् परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥ 43 ॥

ब्राह्मण तथा गाय की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाला व्यक्ति

ब्रह्महत्या-जैसे बड़े पापों से मुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों और गायों की रक्षा व पालन आदि में अपने जीवन को अर्पित कर देने वाला व्यक्ति भी ब्रह्महत्या आदि-जैसे जघन्य पाप से सहज ही मुक्त हो जाता है।

गोवधस्याऽऽनुरूपेण प्राजापत्यं विनिर्दिशेत्।
प्राजापत्यं ततः कृच्छ्रं विभजेत् तच्चतुर्विधम्॥ 44॥

गोवध के प्रायश्चित्त का विधान—गोवध की स्थिति तथा स्वरूप—हत्या संयोगवश हो गयी अथवा हत्या करने वाले का उस हत्या में कोई योग था—के परिप्रेक्ष्य में ही करना चाहिए। प्राजापत्य व्रत तथा कृच्छ्र व्रत को चार-चार भागों में बांटते हुए हत्या की स्थिति के अनुरूप इन्हें सम्पन्न करने की व्यवस्था देनी चाहिए।

एकाहमेकभक्ताशी एकाहं नक्तभोजनः।
अयाचितस्यैकमहरेकाहं मारुताशनः॥ 45॥

महर्षियो! मैं आप लोगों को सर्वप्रथम प्राजापत्य व्रतों के विधान के विषय में जानकारी देने लगा हूं, आप लोग ध्यान से सुनें—

प्रथम प्राजापत्य व्रत में पहले दिन एक समय (केवल दिन में), दूसरे दिन एक समय (केवल रात्रि में) और तीसरे दिन केवल एक समय (दिन में अथवा रात्रि में) बिना मांगे, स्वतः प्राप्त भोजन से और चतुर्थ दिन बिना कुछ खाये, अर्थात् केवल वायु-भक्षण कर (जल का सेवन भी नहीं) निर्वाह करना होता है।

दिनद्वयं चैकभक्तो द्विदिनं नक्तभोजनः।
दिनद्वयमयाची स्याद् द्विदिनं मारुताशनः॥ 46॥

द्वितीय प्राजापत्य व्रत का स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम दो दिनों तक केवल दिन में एक बार, अगले दो दिन केवल रात्रि में एक बार भोजन करना, फिर दो दिनों तक अयाचित (मिल जाये, तो एक बार खाना, नहीं, तो दिन-रात भूखा रहना) तथा अगले दो दिनों तक वायु-भक्षण करके निर्वाह करना होता है।

त्रिदिनं चैकभक्ताशी त्रिदिनं नक्तभोजनः।
दित्रयमयाची स्यात् त्रिदिनं मारुताशनः॥ 47॥

तृतीय प्राजापत्य व्रत का स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम तीनों दिनों तक केवल

एक समय दिन में और अगले तीन दिनों तक केवल एक समय रात्रि में भोजन करना होता है। उसके उपरान्त तीन दिनों तक अयाचित भोजन पर निर्भर रहना होता है तथा अगले तीन दिनों तक वायु-भक्षण करके जीवन-यापन करना होता है। इस प्रकार यह तृतीय प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत बारह दिनों का अनुष्ठान होता है।

चतुरहं त्वेकभक्ताशी चतुरहं नक्तभोजनः।
चतुर्दिनमयाची स्याच्चतुरहं मारुताशनः ॥ 48 ॥

चतुर्थ प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत का स्वरूप इस प्रकार है—चार दिनों तक केवल एक बार दिन में, अगले चार दिनों तक एक समय केवल रात्रि में भोजन करना, अगले चार दिनों तक एक समय (दिन में अथवा रात्रि में) अयाचित भोजन पर निर्भर रहना तथा अन्तिम चार दिनों तक सर्वथा निराहार-निर्जल रहकर, केवल वायु-भक्षण कर जीवन-निर्वाह करना होता है। इस रूप में सोलह दिनों के अनुष्ठान से चतुर्थ प्राजापत्य व्रत सम्पन्न होता है।

प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्।
विप्राणां दक्षिणां दद्यात् पवित्राणि जपेद् द्विजः ॥ 49 ॥

स्थिति, स्वरूप तथा मनोवृत्ति आदि के सन्दर्भ में धर्मशास्त्र में निष्णात ब्राह्मण द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त को सम्पन्न कर लेने के उपरान्त पूर्णतः शुद्ध एवं पाप-मुक्त होने के लिए व्यक्ति को ब्राह्मणों को स्वादिष्ट भोजन कराना चाहिए और उन्हें दान-दक्षिणा आदि से सन्तुष्ट करना चाहिए। ब्राह्मणों के प्रसन्न होकर घर से चले जाने पर व्यक्ति को पवमान सूक्तों का श्रद्धापूर्वक जाप करना चाहिए।

ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु गोघ्नः शुद्धो न संशयः ॥ 50 ॥

गोहत्या का अपराधी उपर्युक्त गो सेवा प्रायश्चित्तों के अतिरिक्त भोजन तथा दान-दक्षिणा आदि से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करने पर पापमुक्त एवं शुद्ध हो जाता है—इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

॥ इति अकामकृतपापप्रायश्चित्त नामक अष्टम अध्याय ॥

नौवां अध्याय

गोविपत्तिप्रायश्चित्त

गवां संरक्षणार्थाय न दुष्येद् रोध-बन्धयोः।
तद्वधं तु न तं विद्यात् कामाऽकामकृतं तथा॥ 1॥

गायों को गड्ढे में गिरने से तथा सिंह, व्याघ्र आदि के आक्रमण से बचाने के प्रयास में अथवा घेरकर बांधने के उपक्रम में अनजाने एवं अनचाहे किसी गाय की मृत्यु हो जाने पर सेवारत व्यक्ति को उसके लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, अर्थात् उसे गोघातक नहीं माना जा सकता। इसके लिए उसे किसी प्रायश्चित्त के लिए विवश नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में इच्छा-अनिच्छा का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; क्योंकि इस घटना में उसका किसी भी प्रकार का कोई प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योगदान ही नहीं है। इसे तो संयोग अथवा आकस्मिक घटना के रूप में लेना ही उचित है। अतः उस पर किसी प्रकार के पाप लगने तथा पाप-मुक्ति के लिए उसके द्वारा प्रायश्चित्त करने आदि का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

दण्डादूर्ध्वं यदन्येन प्रहाराद् यदि पातयेत्।
प्रायश्चित्तं तदा प्रोक्तं द्विगुणं गोवधे चरेत्॥ 2॥

उपर्युक्त दण्ड-व्यवस्था से भिन्न किन्हीं अन्य प्रकारों के प्रहारों से गाय की हत्या किये जाने पर इस पाप का प्रायश्चित्त निर्दिष्ट प्रायश्चित्तों की अपेक्षा दुगुना करना चाहिए।

रोध-बन्धन, योक्त्राणि घातश्चेति चतुर्विधम्।
एकपादं चरेद् रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्॥ 3॥

गोवध के चार रूप हैं—1. अपने बचाव के लिए सुरक्षित स्थान की ओर दौड़ते-भागते गाय, बैल आदि को बलपूर्वक **रोकना,** 2. रस्सी, शृंखला आदि को गले में डालकर सुदृढ़ क़िले—लौहदण्ड—से एक स्थान पर गाय-बैल आदि को

बांधना, 3. गले में रस्सी डालकर और कन्धे पर जुआ रखकर रहट चलाने अथवा हल चलाने आदि के लिए **जोतना** तथा 4. **मार-पीट करना** अथवा लाठी-रस्सी आदि से पीट-पीटकर मार डालना।

गाय-बैल की रोकने मात्र से मृत्यु हो जाने पर गोवध के निर्दिष्ट कृच्छ्र प्राजापत्य का एक चौथाई व्रत तथा बांधने मात्र से होने वाली मृत्यु के लिए आधा व्रत करना चाहिए।

योक्त्रेषु तु त्रिपादं स्याच्चरेत् सर्वं निपातने।
गोवाटे वा गृहे वाऽपि दुर्गे वाऽप्यसमस्थले॥ 4॥

हल में जोतने पर अथवा हल चलाते समय गाय, बैल, सांड़ आदि की मृत्यु हो जाने पर प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत का तीन भाग तथा मार-पीट के कारण होने वाली हत्या के लिए सम्पूर्ण प्रायश्चित्त करना चाहिए।

टिप्पणी—सच्चे अर्थों में तो मार-पीट से होने वाली हत्या ही गोहत्या है और इसके लिए दोषी व्यक्ति को समुचित रूप से दण्ड देना चाहिए। शेष तीनों—रोकने, बांधने और जोतने—अपवाद रूप में जान-बूझकर गाय-बैल को मौत के मुंह में फेंकने अथवा फेंकने-धकेलने का प्रयास करने को छोड़कर—को तो संयोग अथवा अकल्पित घटना-मात्र ही समझना चाहिए। इसके लिए तो किसी प्रकार के प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। हां, जान-बूझकर किये अपराध-रूप पाप के लिए तो दण्ड की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध ही है।

नदीष्वथ समुद्रेषु त्वन्येषु च नदीमुखे।
दग्धदेशे मृता गावः स्तम्भानाद्रोध उच्यते॥ 5॥

'रोध' (रोकना) शब्द को स्पष्ट करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—गौशाला में, घर पर, दुर्ग में, ऊंची-नीची भूमि पर, नदियों, समुद्रों तथा अन्यान्य जलस्रोतों—सरोवर, वापी, कूपों, तड़ाग तथा प्रपात आदि—के किनारों पर, नदियों के उद्गम-स्थलों पर तथा आग से जलते स्थानों पर गाय-बैल आदि की होने वाली मृत्यु 'रोध' कहलाती है।

योक्त्र-दामक-दौरैश्च कण्ठाभरण-भूषणैः।
गृहे वाऽपि वने वाऽपि बद्धा स्याद् गौर्मृता यदि॥ 6॥

गाड़ी के जुआ अथवा रस्सी-डोरी से ,गले में पड़ी लौह-शृंखला से अथवा चमड़े के पट्टे से अथवा घण्टियों की माला से बंधी गाय का घर में अथवा गोशाला

में अथवा वन में प्राण त्यागना 'बन्धन' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—1. कामकृत तथा 2. अकामकृत। गाय-बैल आदि की शारीरिक दुर्बलता से परिचित होते हुए भी उससे काम लेना और इससे उसकी मृत्यु हो जाना 'कामकृत बन्धन' कहलाता है। पशु के स्वास्थ्य आदि के विषय में अथवा उसके शारीरिक सामर्थ्य के विषय में अथवा उसके श्रान्त-क्लान्त होने के सम्बन्ध में अपरिचित होने पर उससे काम लेने पर उसकी होने वाली मृत्यु 'अकामकृत' मृत्यु कहलाती है।

हल में, गाड़ी में जुते, पंक्ति में बंधे तथा पीठ पर लदे भार के कारण अथवा मनुष्य द्वारा पीटे-सताये जाने के कारण सांड़, बैल आदि की होने वाली मृत्यु 'योक्त्रवध' अथवा 'योक्त्रहत्या' कहलाती है।

तदेव बन्धनं विद्यात् कामाऽकामकृतं च यत्।
हले वा शकटे पङ्क्तौ पृष्ठे वा पीडितो नरैः॥ 7॥
गोपतिर्मृत्युमाप्नोति योक्त्रो भवति तद्वधः।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तश्चेतनो वाऽप्यचेतनः॥ 8॥
कामाऽकामकृतक्रोधी दण्डैर्हन्यादथोपलैः।
प्रहता वा मृता वाऽपि तद्धि हेतुर्निपातने॥ 9॥

धन अथवा शारीरिक बल की अधिकता से मत्त (आपे में न रह पाने वाले), मदिरापान के कारण नशे में धुत, मस्तिष्क-विकार से ग्रस्त (पागल) तथा भूत-प्रेत आदि की बाधा का शिकार बने व्यक्ति द्वारा जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे, होश में रहते अथवा न रहते, क्रोध में आकर दण्डों अथवा पत्थरों से गाय-बैल आदि को पीट-पीटकर मार डालना निपातन कहलाता है।

अङ्गुष्ठमात्रस्थूलस्तु बाहुमात्रः प्रमाणतः।
आर्द्रस्तु सपलाशश्च दण्ड इत्यभिधीयते॥ 10॥

'दण्डे' को परिभाषित करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—अंगूठे के बराबर मोटी, हाथ के बराबर लम्बी, पत्तियों के सहित गीली लकड़ी का नाम 'दण्डा' है।

टिप्पणी—सामान्यतया लोक में सूखे बेंत को ही दण्डा कहा जाता है, परन्तु यहां महर्षि ने 'गीली लकड़ी' को ही 'दण्डा' नाम दिया है। लगता है कि प्राचीनकाल में वृक्ष से तोड़ी गई लकड़ी (छमक) को ही 'दण्डा' कहा जाता होगा।

मूर्च्छितः पतितो वाऽपि दण्डेनाऽभिहतः स तु।
उत्थितस्तु यदा गच्छेत् पञ्च सप्त दशैव वा॥ 11॥

ग्रासं वा यदि गृह्णीयात्तोयं वाऽपि पिबेत् यदि।
पूर्वं व्याध्युपसृष्टश्चेत् प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 12॥

दण्डों के प्रहारों से पीड़ित होकर धरती पर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये गाय-बैल तथा भैंस आदि के कुछ देर में उठकर खड़े हो जाने पर और कुछ पग—पांच, सात, दस—ही सही चल लेने पर तथा कुछ खा लेने के पश्चात् पूर्व से ही रोगी होने के कारण प्राण त्याग देने पर किसी प्रकार के प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं पड़ती।

टिप्पणी—यहां महर्षि ने इस मूलभूत तथ्य की उपेक्षा कर दी है कि पूर्व से रोगी पशु पर दण्डों का प्रहार—वह भी इस सीमा तक कि वह संज्ञाहीन (मूर्च्छित) हो जाये—सदैव प्राणघातक सिद्ध होता है। क्षण-भर के लिए पशु का सचेत होना, दो-चार पग चल लेना तथा दो-चार तिनके खा लेना आक्रान्ता के दोष को हलका नहीं कर देता। वैसे भी शरीर वैज्ञानिकों का मानना है कि बुझने से पूर्व दीपक के टिमटिमाने के समान मृत्यु से पूर्व प्राणी में क्षण-भर के लिए नवस्फूर्ति और नवचेतना आ जाती है। यदि दण्डों के प्रहार का शिकार बने पशु भी मरने से पूर्व क्षण-भर के लिए सचेतनता का प्रदर्शन करते हैं, तो प्रहारक उनकी मृत्यु के दोष से मुक्त नहीं हो जाता। उसे पशुओं की मृत्यु के लिए उत्तरदायी मानना ही चाहिए और इसके लिए उसे निश्चित रूप से प्रायश्चित्त भी करना ही चाहिए। यहां किसी प्रकार की छूट देने का तो कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। चोट खाये पशुओं की क्षणिक सचेतनता आक्रान्ता को निर्दोष नहीं बना देती।

पिण्डस्थे पादमेकं तु द्वौ पादौ गर्भसम्मिते।
पादोनं व्रतमुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम्॥ 13॥

दण्डों के प्रहार के कारण गर्भिणी गाय के पन्द्रह दिन के, एक मास के तथा सात मास के गर्भ के गिर जाने पर प्रहार करने वाले को प्रायश्चित्त के रूप में क्रमश: सम्पूर्ण कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत के एक चौथाई भाग का, आधे भाग का तथा तीन चौथाई भाग का अनुष्ठान करना चाहिए।

पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च।
त्रिपादे तु शिखावर्जं सशिखं तु निपातने॥ 14॥

एक चौथाई भाग चान्द्रायण व्रत करने पर शरीर के रोमों का, आधा व्रत करने पर शरीर के रोमों के साथ-साथ माथे, दाढ़ी व मूंछ का, तीन चौथाई व्रत करने पर

रोमों, दाढ़ी-मूंछ के बालों के अतिरिक्त शिखा को छोड़कर सिर के बालों का भी तथा हत्या हो जाने पर शरीर के रोमों, दाढ़ी-मूंछ के केशों तथा शिखा-सहित सिर के बालों का पूर्ण मुण्डन कराना चाहिए।

पादे वस्त्रयुगं चैव द्विपादे कांस्यभाजनम्।
त्रिपादे गोवृषं दद्याच्चतुर्थे गोद्वयं स्मृतम्॥ 15॥

गोगर्भ को गिराने के तथा हत्या के अपराधी को चौथाई, आधा, तीन-चौथाई तथा पूरा प्रायश्चित्त (चान्द्रायण व्रत) करने पर ब्राह्मण को क्रमशः दो वस्त्र धोती-कुर्ता, कांसे की थाली, सांड़ तथा दो गाएं दक्षिणा रूप में देनी चाहिए।

निष्पन्नसर्वगात्रस्तु दृश्यते वा सचेतनः।
अङ्गप्रत्यङ्गसम्पूर्णो द्विगुणं गोव्रतं चरेत्॥ 16॥

गर्भिणी गाय के गर्भस्थ शिशु के अंग-प्रत्यंगों के विकसित हो जाने तथा उसमें चैतन्य (जीव का प्रवेश) सञ्चार हो जाने पर किये गये गोवध का प्रायश्चित्त दो गायों के वध के पाप से मुक्ति प्राप्त करने जितना होता है, अर्थात् उस गाय के प्राण त्यागने के साथ गर्भस्थ बालक भी निष्प्राण हो जाता है। इस प्रकार एक के जीवन-मरण के साथ दूसरे का जीवन-मरण जुड़ा हो, तो गोघातक पर दो जीवों की हत्या का दोष लगता है।

पाषाणेनाथ दण्डेन गावो येनाऽभिघातिताः।
शृङ्गभङ्गे चरेत् पादं द्वौ पादौ नेत्रघातने॥ 17॥
लाङ्गूले पादकृच्छ्रं तु द्वौ पादावस्थिभञ्जने।
त्रिपादं चैव कर्णे तु चरेत् सर्वं निपातने॥ 18॥

पत्थर अथवा दण्डे के आघातों से गाय के सींग टूटने, आंख फूटने, पूंछ कटने, हड्डी टूटने तथा कान फटने-जैसे पापों का प्रायश्चित्त क्रमशः चौथाई, आधा, चौथाई, आधा तथा तीन-चौथाई कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। इसी से पापी पाप--मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है।

टिप्पणी—आश्चर्य है कि स्मृतिकार एक ही कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत से चिपटे हुए हैं। वे विभिन्न पापों के प्रायश्चित्त के लिए उसी व्रत को चार भागों—पूर्ण, तीन चौथाई, अर्द्ध और चौथाई में बांट रहे हैं। समझ में नहीं आता, वे इन्हें कोई और नाम क्यों नहीं दे देते? आधा, चौथाई आदि करने-कहने की आवश्यकता ही क्या है?

शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च कटिभङ्गे तथैव च।
यदि जीवति षण्मासान् प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 19॥

पत्थर अथवा दण्डे के आघात से सींग, हड्डी, कमर तथा पूंछ आदि तुड़वाने वाली गाय के छह मास तक जीवित रह जाने पर प्रहारकर्ता को किसी प्रकार के प्रायश्चित्त करने की कोई आवश्यकता नहीं।

टिप्पणी—इसका अर्थ यह है कि गाय पर प्रहार करने वाले को प्रायश्चित्त के लिए हड़कम्प नहीं मचाना चाहिए। उसे गाय के जीवित होने-न होने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस सन्दर्भ में एक विचारणीय तथ्य यह भी है कि समय बीतने के साथ हर्ष-शोक आदि की मात्रा भी घटती जाती है। अपराधी का अपराध-बोध-भाव भी समय के बीतने के साथ मन्द पड़ जाता है। क्या प्रहारकर्ता द्वारा किया गया गोवध ही पाप है, गो-पीड़न में तथा उसका अंग-भंग करने में कोई दोष नहीं? प्रहारक के प्रहारों के उपरान्त भी पशु के जीवित रह जाने का लाभ हत्यारे को देना, तो न्याय का गला घोटना है। हमारे विचार में तो गाय के बचने-मरने की चिन्ता किये बिना ही अपराधी को उसके अपराध का दण्ड और वह भी तत्काल अवश्य ही मिलना चाहिए। अंगरेजी की प्रसिद्ध सूक्ति भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है—'Justice delayed is Justice denied' अर्थात् न्याय देने में विलम्ब का अर्थ न्याय को नकारना ही है। इसके अतिरिक्त अपराधी को तत्काल दण्ड न मिलने से समाज को अच्छा संकेत भी नहीं मिल पाता। अतः गो-पीड़न-जैसे जघन्य पाप के निवारण के लिए प्रहारक को तत्काल और निश्चित रूप से दण्ड देने का प्रावधान करना ही उचित है।

व्रणभङ्गे च कर्तव्यः स्नेहाभ्यङ्गस्तु पाणिना।
यवसश्चोपहर्त्तव्यो यावद् दृढबलो भवेत्॥ 20॥

अपने प्रहारों से गाय-बैल के व्रण को फोड़ने वाले दुष्ट पुरुष को सर्वप्रथम अपने हाथ से उसके घाव को साफ़ करना चाहिए और फिर फोड़े के ठीक होने तक प्रतिदिन उस पर घी-तेल आदि लगाते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे अपने कर्तव्य-कर्म के रूप में गाय को घास-दाना आदि खिलाने की समुचित व्यवस्था भी करनी चाहिए।

यावत्सम्पूर्णसर्वाङ्गस्तावत् तं पोषयेन्नरः।
गोरूपं ब्राह्मणस्याऽग्रे नमस्कृत्वा विसर्जयेत्॥ 21॥

गाय के घाव के ठीक होने तक अपराधी व्यक्ति को उसके पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। गाय के घाव के ठीक होने या भर जाने पर, उसे ब्राह्मण के समक्ष ले जाकर व आदरपूर्वक उसे प्रणाम करके वह गाय उसे समर्पित कर देनी चाहिए।

यद्यसम्पूर्णसर्वाङ्गो हीनदेहो भवेत् तदा।
गोघातकस्य तस्यार्द्धं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ 22॥

घाव के ठीक हो जाने से पूर्व ही गाय, बैल अथवा सांड़ आदि की मृत्यु हो जाने पर घाव के लिए उत्तरदायी अपराधी को गोहत्या के पाप के प्रायश्चित्त के रूप में निर्दिष्ट व्रत का आधा—अर्ध प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत—अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से व्यक्ति शुद्ध एवं पाप-मुक्त होता है।

काष्ठ-लोष्टक-पाषाणैः शस्त्रेणैवोद्धतो बलात्।
व्यापादयति यो गां तु तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत्॥ 23॥

लकड़ी-दण्डा, पत्थर-ढेला, ईंट-कंकड़ तथा शस्त्र—कृपाण, खड्ग-छुरी आदि तीखी धार वाले लौहखण्ड—से जान-बूझकर तथा बलपूर्वक गाय की हत्या में प्रवृत्त होने वाले नीच पुरुष का प्रायश्चित्त इस प्रकार है।

चरेत् सान्तपनं काष्ठे प्राजापत्यं तु लोष्टके।
तप्तकृच्छ्रं तु पाषाणे शस्त्रे चैवाऽतिकृच्छ्रकम्॥ 24॥

लकड़ी द्वारा मारने से हुई हत्या के लिए सान्तपन नामक, ईंट-ढेला आदि द्वारा प्रहार करने से होने वाली हत्या के लिए प्राजापत्य नामक, पत्थर आदि द्वारा प्रहार करने से प्राणान्त होने पर तप्तकृच्छ्र नामक तथा शस्त्र-विशेष द्वारा किये गये आघात से होने वाली हत्या के लिए अतिकृच्छ्र नामक व्रत प्रायश्चित्त के रूप में करना चाहिए।

पञ्च सान्तपने गावः प्राजपत्ये तथा त्रयः।
तप्तकृच्छ्रे भवन्त्यष्टावतिकृच्छ्रे त्रयोदश॥ 25॥

पाप-निवृत्ति एवं शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में किये जाने वाले उपर्युक्त चार—सान्तपन, प्राजापत्य, तप्तकृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र—में क्रमशः पांच, तीन, आठ तथा तेरह गायों के दान का विधान है।

टिप्पणी—प्राजापत्य व्रत में दान की जाने वाली गायों की संख्या में कुछ ग़लत छप गया लगता है अथवा हमारे विचार में यह संख्या 'त्रयः' के स्थान पर षट्, सप्त आदि होनी चाहिए; क्योंकि लकड़ी के प्रहार से पत्थर का प्रहार कुछ कम दुःखदायक नहीं होता, जिससे कि प्रायश्चित्त में लघुता बरती जाये। शास्त्रज्ञ विद्वानों से इस सम्बन्ध में विचार करने का विनम्र निवेदन है।

प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत्प्रतिरूपकम्।
तस्याऽनुरूपं मूल्यं वा दद्यादित्यब्रवीन्मनुः॥ 26॥

प्रायश्चित्त के स्वरूप के विस्तार के अन्तर्गत महर्षि पराशर मनु महाराज को उद्धृत करते हुए कहते हैं—जिस आयु, स्वास्थ्य तथा बल-सामर्थ्य के पशु का वध किया गया हो, पशु के स्वामी को उस मृत पशु के समकक्ष—मूल्य तथा महत्त्व—पशु लौटाना चाहिए। उसी प्रमाण का पशु लौटाना सम्भव न होने पर बाज़ार के आधार पर मृत पशु के मूल्य क अनुरूप धन का भुगतान करना चाहिए।

अन्यत्राङ्कन-लक्ष्मभ्यां वाहने मोचने तथा।
सायं सङ्गोपनार्थं च न दुष्येद् रोध-बन्धयोः॥ 27॥

निम्नोक्त स्थितियों में गाय, भैंस तथा बैल आदि की मृत्यु हो जाने पर सम्बद्ध व्यक्ति हत्या के दोष से ग्रस्त नहीं होता—

1. बैल, सांड़ आदि को बधियाते (नपुंसक बनाते) समय शस्त्र द्वारा उसे चिह्नित करने पर,

2. शस्त्र से चिह्नित करने के लिए पशु पर गोबर का चिह्न बनाने पर,

3. बोझ लादने तथा उतारने पर,

4. सायंकाल पशु की रक्षा के लिए उसे बाड़े में बन्द करने अथवा ज़ंजीर रस्सी आदि से बांधने पर।

इन स्थितियों में हुई मृत्यु को न तो हत्या माना जा सकता है, न इसके लिए किसी को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और न ही प्रायश्चित्त का निर्देश किया जा सकता है।

अतिदाहेऽतिवाहे च नासिकाभेदने तथा।
नदी-पर्वतसञ्चारे प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ 28॥

निम्नोक्त स्थितियों में गाय-बैल (सांड़) की मृत्यु को हत्या कहा जायेगा और

इसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति को प्रायश्चित्त करना ही होता है—

1. सांड़ को आवश्यकता से अधिक दाग़ने पर,

2. सांड़ पर उसकी सामर्थ्य से अधिक लदान करने पर,

3. सांड़ की सामर्थ्य से अधिक समय तक उसे जोतने पर,

4. नाक छेदते समय अपेक्षित सावधानी न बरतने पर,

5. पहाड़ों-मैदानों में चराते समय समुचित देखभाल न करने के कारण गाय-भैंस के गिरने-फिसलने पर।

इन स्थितियों में होने वाली पशु—गाय, सांड़ आदि—की मृत्यु को रक्षक की असावधानी ही मानना होगा और इसके लिए उसे दण्ड भुगतने के रूप में प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।

अतिदाहे चरेत् पादं द्वौ पादौ वाहने चरेत्।
नासिक्ये पादहीनं तु चरेत् सर्वं निपातने॥ 29॥

निम्नोक्त स्थितियों में गाय-सांड़ आदि की होने वाली मृत्यु का प्रायश्चित्त इस प्रकार है—1. अतिदाह-अत्यधिक गरमी अथवा अग्नि की ऊष्मा की प्रचण्डता के कारण मृत्यु होने पर चतुर्थांश, 2. अधिक भार लादने के कारण हुई मृत्यु के लिए आधा, 3. नाथने में हुई असावधानी के कारण होने वाली मृत्यु के लिए तीन-चौथाई तथा 4. जान-बूझकर किये वध के लिए पूर्ण प्रायश्चित्त करना चाहिए।

दहनात्तु विपद्येत अनड्वान योक्त्रयन्त्रितः।
उक्तं पराशरेणैव ह्येकं पादं यथाविधिः॥ 30॥

जुए में जुते बैल के घर, खेत-खलिहान आदि में लगी आग से झुलसकर मर जाने का प्रायश्चित्त एक चौथाई है—ऐसी महर्षि पराशर की व्यवस्था है।

टिप्पणी—वस्तुतः घर में अचानक आग लग जाने पर गृह-पति द्वारा जुए में जुते हुए बैल की रक्षा की चिन्ता और चेष्टा करना स्वाभाविक ही है, पुनरपि घर के अधिक मूल्यवान् सामान की अथवा घर के प्राणियों की सुरक्षा को प्राथमिकता देने के कारण अथवा आग की विकरालता एवं धूम्र की तीव्रता के कारण गृहस्वामी द्वारा बैल को न बचा पाने को उसकी विवशता ही मानना होगा, अन्यथा किसान जान-बूझकर अपने पशुधन को कभी खोना नहीं चाहेगा। इस स्थिति में प्रायश्चित्त का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होना चाहिए; क्योंकि किसान के लिए तो पशु-हानि शोचनीय स्थिति है। इस स्थिति में निर्दिष्ट प्रायश्चित्त को भी किसान को और

अधिक पीड़ित करना ही कहा जायेगा; क्योंकि वास्तव में किसान को तो पशु प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है, वह तो अपने प्राणों को संकट में डालकर भी अपने पशु को बचाने में कभी कोताही नहीं बरतता।

रोधनं बन्धनं चैव भारप्रहरणं तथा।
दुर्गप्रेरण-योक्त्रं च निमित्तानि वधेषु षट्॥ 31॥

पशु—गाय, बैल-भैंस आदि—की मृत्यु के प्रायः निम्नोक्त छह कारण होते हैं—1. घेरकर रोकना, अर्थात् पशु को अपने मनोऽनुकूल स्थान पर न जाने देना, 2. एक ही स्थान पर लम्बे समय तक उसे बांधे रखना, भूख, प्यास की निवृत्ति न हो पाना तथा वहां पर मल-मूत्र का विसर्जन करते रहने से पर्यावरण एवं परिवेश का दूषित होना, 3. आवश्यकता से अधिक परिमाण में तथा अधिक समय तक पशु पर भार लादना, 4. लाठी, मुक्का तथा पत्थर आदि से निरन्तर अथवा कठोरता से उसे पीटना, 5. घास आदि चराने के लिए पशु को कठिन, कष्टप्रद एवं दुर्गम स्थानों पर ले जाना तथा 6. अधिक समय तक जुए में जोते रखना, विश्राम न लेने देना, परिणामतः पशु का थककर गिर पड़ना आदि।

बन्ध-पाश-सुगुप्ताङ्गो म्रियते यदि गोपशुः।
भवने तस्य पापी स्यात् प्रायिश्चत्तार्धमर्हति॥ 32॥

जिसके घर में लौह-शृंखला से अथवा रस्सी से बंधी गाय अथवा गुप्तांग को शक्तिहीन किया जाता बैल मर जाता है, उस गृहपति को अपने को पाप का भागी मानते हुए गोवध के लिए निर्दिष्ट व्रतानुष्ठान का आधा प्रायश्चित्त करना चाहिए।

टिप्पणी—बंधे पशु के मरने का स्पष्ट अर्थ गृहपति द्वारा अपने पशु के खाने-पीने, घूमने-फिरने आदि की ओर समुचित ध्यान न देना है। इसी प्रकार बधियाते हुए सांड़ की मृत्यु का अर्थ भी बधियाने के समय अपेक्षित सावधानी न बरतना है। इससे गृहपति को अपने पशु से ही हाथ धोना पड़ता है, जो अपने आप में उसके लिए पर्याप्त दण्ड है। यही कारण है कि प्रायश्चित्त की मात्रा स्वल्प रखी गयी है।

न नारिकेलैर्न च शाणबालै-
र्न चाऽपि मौञ्जैर्न च वल्कशृङ्खलैः।
एतैस्तु गावो न निबन्धनीया
बद्ध्वाऽपि तिष्ठेत् परशुं गृहीत्वा॥ 33॥

नारियल, पटसन (शीणी-सुतली), बाल, मूंज और वृक्ष की छाल से बनी रस्सी से तथा लौह-शृंखला से गाय-बैल को कभी नहीं बांधना चाहिए, अर्थात् इस प्रकार रस्सी और ज़ंजीर को गाय-बैल के गले में नहीं डालना चाहिए; क्योंकि इनसे गाय-बैल आदि के गले के रुंध जाने और दम घुट जाने से उनकी मृत्यु हो सकती है। अतः पहले तो पशु के गले में रस्सी और ज़ंजीर आदि बांधनी ही नहीं चाहिए और यदि बांधनी ही पड़ जाये, तो आवश्यकता पड़ने पर उसे काटने के लिए कुल्हाड़ा सदैव पास में तैयार रखना चाहिए।

कुशैः काशैश्च बध्नीयाद् गोपशुं दक्षिणामुखम्।
पाशलग्नाग्निदग्धासु प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 34॥

गाय और बैल को सदैव कुशों से अथवा कास—एक प्रकार की घास—से बनी रस्सी से ही बांधना चाहिए। कुशों, कास आदि से बनी रस्सी से गाय-बैल आदि का गला घुट जाने पर अथवा आग लग जाने से जल मरने पर पशु के स्वामी को कोई दोष नहीं लगता, उसे किसी प्रकार का कोई प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता।

यदि तत्र भवेत् काष्ठं प्रायश्चित्तं कथं भवेत्?।
जपित्वा पावनीं देवीं मुच्यते तत्र किल्विषात्॥ 35॥

हां, कुशों और कास से बनी रस्सी के गले में पड़ी होने के साथ-साथ पशु की रस्सी के एक सिरे के लकड़ी अथवा लोहे के खूंटे से बंधे होने पर मृत्यु हो जाने का पाप लगता है और इसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यह प्रायश्चित्त गायत्री मन्त्र का जाप है। इस मन्त्र के जाप से खूंटे से बांधने के कारण हुई गाय की हत्या के पाप की निवृत्ति हो जाती है।

प्रेरयन् कूप-वापीषु वृक्षच्छेदेषु पातयन्।
गवाशनेषु विक्रीणंस्ततः प्राप्नोति गोवधम्॥ 36॥

निम्नोक्त दो स्थानों पर गाय-बैल आदि को ले जाने वाले तथा निम्नोक्त से लेन-देन करने वाले गोपालक को गोवध का पाप लगता है। वस्तुतः इन तीनों स्थितियों में पशु की मृत्यु की सम्भावना काफ़ी बढ़ जाती है।

1. कुओं-बावड़ियों की ओर ले जाना,
2. वृक्षों को काट-गिराये जाने वाले वन प्रदेश में ले जाना,
3. क़साइयों को सौंपना-बेचना।

आराधितस्तु यः कश्चिद् भिन्नकक्षो यदा भवेत्।
श्रवणं हृदयं भिन्नं मग्नो वा कूपसङ्कटे॥ 37॥
कूपादुत्क्रमणे चैव भग्नो वा ग्रीव-पादयोः।
स एव म्रियते तत्र त्रीन् पादांस्तु समाचरेत्॥ 38॥

रोगी एवं अस्वस्थ पशु—बैल, भैंसा आदि—का भली प्रकार से उपचार करने के फलस्वरूप नीरोग—उसके स्वस्थ होने तथा खिलाने-पिलाने से उसके हृष्ट-पुष्ट बनने के अतिरिक्त प्रतियोगिता के योग्य समर्थ—बन जाने के उपरान्त पालक द्वारा पुनः उसके किसी अंग—कान, पैर आदि के भंग करने, उसकी हृदयगति के रुक जाने, उसके गड्ढे-कुएं में गिर जाने अथवा उसे कूप आदि से बाहर निकालते समय उसके पैर, ग्रीवा आदि—के क्षत-विक्षत हो जाने पर अथवा उसके मर जाने पर सम्बद्ध व्यक्ति को प्रायश्चित्त के रूप में तीन चौथाई प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत करना होता है।

कूपखाते तटाबन्धे नदीबन्धे प्रपासु च।
पानीयेषु विपन्नानां प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 39॥

निम्नोक्त स्थानों में गिरने से मरने वाले पशु का कोई प्रयश्चित्त नहीं होता; क्योंकि ऐसी मृत्यु को पशु की स्वाभाविक मृत्यु ही माना जाता है। पशु की इस मृत्यु के लिए पशु के स्वामी अथवा पालक को दोषी नहीं ठहराया जा सकता—

1. गाय-बैल का किसी सूखे कूप (में) के गड्ढे में गिरना,

2. किसी तटबन्ध—नदी-नद के किनारे पर बने बांध (डैम) से फिसलकर नीचे गिरना,

3. नदी-नद पर बने सेतु अथवा अवरोध को तोड़कर अथवा बिना तोड़े वहां से गिरना अथवा छलांग लगाना,

4. किसी जलप्रपात से फिसलकर गिरना-मरना तथा

5. पानी से भरे किसी पोखर में गिरना-डूबना।

इन स्थितियों में पशु के प्राणान्त हो जाने पर गोपालक अथवा पशु के स्वामी को कोई प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता; क्योंकि पशु की इस प्रकार की मृत्यु में तो उसका कोई योगदान ही नहीं।

कूपखाते तटाखाते दीर्घीखाते तथैव च।
स्वल्पेषु धर्मखातेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 40॥

निम्नोक्त प्रकार के गड्ढों में गिरने से पशु की मृत्यु हो जाने पर भी गोपालक

अथवा गाय के स्वामी के लिए किसी प्रायश्चित्त का कोई विधान नहीं—

1. कुएं के जल के सूख जाने पर बना गड्ढा,

2. नदी-नदों पर बने बांधों के आस-पास की गयी खुदाई से बने छोटे-बड़े गड्ढे,

3. वनों में व चरागाह के आसपास के गहरे गड्ढे तथा

4. राजमार्गों पर बिछाने के लिए मिट्टी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए की गयी खुदाई से बने छोटे-छोटे गड्ढे।

वेश्मद्वारे निवासेषु यो नरः खातमिच्छति।
स्वकार्यगृहखातेषु प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ 41॥

निम्नोक्त स्थानों पर गिरने से पशु की होने वाली मृत्यु के लिए सम्बद्ध व्यक्ति के दोषी-उत्तरदायी होने से उसके लिए पापमुक्त होना एवं प्रायश्चित्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

1. गृह-द्वार के बाहर, गायों के निवास (गोशाला) के बाहर अपने कार्य के लिए खुदाई करने के कारण बने गड्ढों में तथा

2. गृह-निर्माण के लिए खोदी गयी धरती में गिरकर यदि कोई पशु—गाय, भैंस, बैल आदि—प्राण-मुक्त हो जाता है, तो उसके लिए सम्बद्ध व्यक्ति—गृहस्वामी अथवा गौशाला का रक्षक आदि—को अपनी ग़लती के लिए प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।

निशि बन्धनिरुद्धेषु सर्पव्याघ्रहतेषु च।
अग्नि-विद्युद्विपन्नानां प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 42॥

निम्नोक्त परिस्थितियों में पशु के प्राणान्त के लिए किसी को दोषी न ठहराये जाने के कारण प्रायश्चित्त का कोई विधान नहीं—

1. रात्रि में पशु को बांधने के कारण अथवा उसे घेरकर रखने के कारण, अर्थात् बाड़े के भीतर बन्द रखने के कारण,

2. सर्प द्वारा डसने अथवा व्याघ्र द्वारा चीरने-फाड़ने तथा

3. आग लगने व बिजली गिरने के कारण।

इन कारणों पर व्यक्ति का तो कोई वश ही नहीं होता। ये तो एक प्रकार की प्राकृतिक आपदाएं हैं। अतः इनके लिए व्यक्ति-विशेष को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। अतः किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त के विधान की कोई आवश्यकता ही नहीं।

ग्रामघाते शरौघेण वेश्मभङ्गान्निपातने।
अतिवृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 43॥
सङ्ग्रामे प्रहतानां च ये दग्धा वेश्मकेषु च।
दावाग्नि-ग्रामघातेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ 44॥

निम्नोक्त परिस्थितियों में गाय-बैल की मृत्यु के लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का कोई विधान नहीं—

1. चोरों-डकैतों द्वारा ग्राम को घेर लेने पर तथा उनके द्वारा छोड़े गये बाणों अथवा फेंके गये, भालों-बरछियों द्वारा, 2. मकान के गिरने-दबने से अथवा बैठ जाने से, 3. मूसलाधार वृष्टि होने से, 4. घर में आग लग जाने पर, 5. युद्ध छिड़ जाने पर, 6. जंगल में आग के लगने और फैल जाने पर, 7. पूरे गांव में मार-काट मच जाने पर तथा 8. किसी संक्रामक रोग के फैल जाने पर।

ये सब मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर के कारण हैं। अतः इनसे हुई गाय की मृत्यु के लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता।

यन्त्रिता गौश्चिकित्सार्थं मूढगर्भविमोचने।
यत्ने कृते विपद्येत प्रायश्चितं न विद्यते॥ 45॥

निम्नोक्त दो कारणों से भी गाय की होने वाली मृत्यु के लिए किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं पड़ती—

1. दवाई खिलाने-पिलाने के लिए बांधी गयी गाय का मर जाना तथा
2. पेट में मरे हुए गर्भ को निकालने के प्रयास में गाय की मृत्यु हो जाना।

इन दोनों परिस्थितियों में गाय की मृत्यु होना अकल्पित एवं अचिन्तित घटना है, जिसमें किसी का भी कोई दोष नहीं।

व्यापन्नानां बहूनां च बन्धने रोधनेऽपि वा।
भिषङ्मिथ्योपचारे च प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ 46॥

बांधने तथा बाड़े आदि में रोककर रखने के कारण तथा चिकित्सक द्वारा उलटी-सीधी औषधि दे देने के कारण एक साथ एक से अधिक गायों की मृत्यु हो जाने पर प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।

गोवृषाणां विपत्तौ च यावन्तः प्रेक्षका जनाः।
अनिवारयतां तेषां सर्वेषां पातकं भवेत्॥ 47॥

कूप-वापी आदि में गिरते-धंसते गाय-बैल आदि को बचाने की चेष्टा न

करके, मूकदर्शक बनकर पशु को मरता देखते रहने वाले व्यक्तियों को प्रायश्चित्त करना ही होता है।

अभिप्राय यह है कि मृत्यु की सम्भावना वाले स्थल पर गाय-बैल को जाता देखकर, उन्हें रोकने-बचाने का प्रयास करना दर्शक का कर्तव्य-कर्म है। इस दिशा में अकर्मण्य बने रहने वाले व्यक्ति पाप के भागी होते हैं।

एको हतो यैर्बहुभिः समेतै-
र्नज्ञायते यस्य हतोऽभिघातात्।
दिव्येन तेषामुपलभ्य हन्ता
निवर्तनीयो नृपसन्नियुक्तैः॥ 48॥

जहां कहीं अनेक व्यक्ति एक साथ मिलकर एक ही गाय पर टूट पड़े हों और यह निश्चय करना कठिन हो जाये कि किसके प्रहार से पशु की मृत्यु हुई है, वहां राजा द्वारा नियुक्त कर्मचारियों को सभी आक्रमणकारियों को पृथक्-पृथक् शपथ दिलाकर वास्तविक अपराधी—प्रहार का शिकार बने प्राणी की मृत्यु के लिए वास्तविक रूप से उत्तरदायी—का निर्धारण करना चाहिए।

एका चेद्बहुभिः काचिद्दैवाद्व्यापादिता भवेत्।
पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक् पृथक्॥ 49॥

यदि एक गाय की मृत्यु के लिए एक साथ अनेक मनुष्य दोषी पाये जायें, तो उन सबको पृथक्-पृथक् एक चौथाई प्रायश्चित्त करना चाहिए।

हते तु रुधिरं दृश्यं व्याधिग्रस्तः कृशो भवेत्।
लाला भवति दष्टेषु एवमन्वेषणं भवेत्॥ 50॥

गाय को मरा-पड़ा देखकर उसकी मृत्यु के कारण का निर्धारण करने के कुछ संकेत इस प्रकार से हैं—

गाय के शरीर से बहते रुधिर को देखकर यह समझना चाहिए कि किसी ने शस्त्र से उसकी हत्या की है। यदि गाय कृश-दुर्बल होकर गिर पड़ी और मर गयी हो, तो उसकी मृत्यु का कारण व्याधि को समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि गाय के मुख से झाग निकल रहे हों, तो सर्प आदि द्वारा डंसे जाने से उसकी मृत्यु का होना समझना चाहिए।

ग्रासार्थं चोदितो वाऽपि अध्वानं नैव गच्छति।
मनुना चैवमेकेन सर्वशास्त्राणि जानता॥ 51॥

सभी शास्त्रों के ज्ञाता-विधाता मनु महाराज का स्पष्ट कथन है कि यदि बार-बार प्रेरणा दिये जाने पर भी खाने के लिए प्रस्तुत न होने वाली—उठकर खड़ी न होने वाली—गाय को भी रोग-पीड़ित ही समझना चाहिए।

प्रायश्चित्तं तु तेनोक्तं गोघ्नश्चान्द्रायणं चरेत्।
केशानां रक्षाणार्थाय द्विगुणं व्रतमाचरेत्॥ 52॥

महाराज मनु के अनुसार—गोवध का प्रायश्चित्त कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करना तथा सिर मुंडवाना है। सिर न मुंडवाने वाले गोघाती को एक चान्द्रायण व्रत के स्थान पर दो व्रत करने चाहिए, तभी व्यक्ति पाप-मुक्त एवं शुद्ध हो पाता है।

टिप्पणी—'सिर मुंडाना' एक प्रकार से पाप को सार्वजनिक (Publicity) करना है। सिर मुंडाने पर लोगों द्वारा कारण पूछे जाने पर व्यक्ति का लज्जित होना स्वाभाविक है। अत: लोकनिन्दा एवं अपमान से बचने के इच्छुक व्यक्ति के लिए दो चान्द्रायण व्रतों के अनुष्ठान का विधान किया गया है।

प्राय: किसी पूज्य व्यक्ति—गुरु, माता, पिता आदि—की मृत्यु पर शिष्य, पुत्र आदि द्वारा मुण्डन कराया जाता है। इसका एक उद्देश्य तो शोक को सार्वजनिक करना होता है और दूसरा उद्देश्य समय-विशेष—महीना, बीस दिन, बाल न उगने तक—तक शोक की स्मृति को बनाये रखना और सजने-संवरने से दूर रहना है, अर्थात् उधर ध्यान न देना है।

द्विगुणे व्रत आदिष्टे द्विगुणा दक्षिणा भवेत्।
राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुत:॥ 53॥

सिर का मुण्डन न कराने का अर्थ केवल एक के स्थान पर दो चान्द्रायण व्रत करना ही नहीं है, अपितु ब्राह्मण को दक्षिणा भी दूनी देनी पड़ती है—प्रायश्चित्त के विधान का निर्देश करने वाले राजा अथवा राजपुत्र का कर्तव्य है कि प्रायश्चित्त पूछने के लिए आये गोघातक के समक्ष इस तथ्य को भली प्रकार स्पष्ट कर देना चाहिए।

अकृत्वा वपनं तेषां प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्।
यस्य न द्विगुणं दानं केशश्च परिरक्षत:॥ 54॥

केश-मुण्डन न कराने वाला तथा द्विगुणित प्रायश्चित्त भी न करने वाला व्यक्ति कभी शुद्ध और पाप-मुक्त नहीं हो पाता। एक कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करने पर

भी वह पाप-ग्रस्त रहता है। उसका पाप सिमटकर उसके केशों से जुड़-जकड़ जाता है।

तत्पापं तस्य तिष्ठेत वक्ता च नरकं व्रजेत्।
यत्किञ्चित् क्रियते पापं सर्वं केशेषु तिष्ठति॥ 55॥

इस तथ्य—शिरोमुण्डन न कराने पर दुगुना प्रायश्चित्त करना होता है—का सुस्पष्ट निर्देश न करने वाला ब्राह्मण अथवा राजा नरकगामी होता है। अत: ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में गोघातक को सिर मुंडवाने का आदेश देना चाहिए। मुण्डन न कराने वाले से कठोरता से दुगुना प्रायश्चित्त कराना चाहिए। ऐसा न करने पर वह पाप-मुक्त नहीं होता, उसका पाप उसके केशों से चिपका रहता है—यह सब उसे स्पष्ट कर देना चाहिए।

सर्वान् केशान् समुद्धृत्यच्छेदयेदङ्गुलद्वयम्।
एवं नारी-कुमारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम्॥ 56॥

कुमारी कन्या तथा विवाहिता स्त्री द्वारा गोहत्या किये जाने पर उनसे प्रायश्चित्त—चान्द्रायण व्रत—तो कराना चाहिए, परन्तु उनके सिर के बाल पूरे नहीं मूंड़ने चाहिए। दो अंगुल लम्बे बालों से अधिक लम्बे बाल ही काट देने चाहिए। दो अंगुल तक लम्बे रहने देने चाहिए।

न स्त्रियाः केशवपनं न दूरे शयनाऽसनम्।
न च गोष्ठे वसेद्रात्रौ न दिवा गा अनुव्रजेत्॥ 57॥

गोहत्या करने वाली स्त्री से प्रायश्चित्त के रूप में न तो उसके सिर का पूरा मुण्डन करना चाहिए, न ही उसके शुद्ध, पाप-मुक्त होने तक उससे दूर-दूर रहना, उससे दूर सोना आदि-जैसे बहिष्कार की क्रियाएं करनी चाहिए। स्त्रियों से गोवध के प्रायश्चित्त के अन्तर्गत रात्रि में गोशाला में रहना और दिन में गायों के पीछे चलना आदि कार्य भी नहीं कराने चाहिए।

नदीषु सङ्गमे चैव अरण्येषु विशेषतः।
न स्त्रीणामजिनं वासो व्रतमेवं समाचरेत्॥ 58॥

गोवध हो जाने पर स्त्रियों को प्रायश्चित्त के रूप में नदियों के संगम-स्थल पर, विशेष रूप से घने वन में रहने और तप करने का निर्देश देना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के लिए मृगचर्म अथवा वल्कल आदि धारण करना उचित नहीं।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए ही उनसे प्रायश्चित्त—व्रत, अनुष्ठान आदि—कराना चाहिए।

टिप्पणी—स्त्रियां स्वभाव से अत्यन्त कोमल होती हैं। वे पुरुषों द्वारा अपने बहिष्कार को बड़ी गम्भीरता से लेती हैं, जिसका उनके मन पर अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ता है। मन की विकृति स्वास्थ्य एवं शारीरिक स्थिति को भी प्रभावित करती है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को एकान्त में रहने को विवश करने से उनकी सुरक्षा का प्रश्न जुड़ जाता है। दुष्टों द्वारा उनके प्रताड़न एवं शीलहरण आदि की समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। स्त्रियों द्वारा मृगचर्म आदि धारण करने पर उनकी अर्धनग्नता मुनियों के मन में भी क्षोभ उत्पन्न कर सकती है। इसके अतिरिक्त रात्रि में स्त्रियों का गोशाला में शयन और दिन में गायों के पीछे विचरण से भी उनकी सुरक्षा का प्रश्न जुड़ा रहता है। यहां यह भी विचारणीय है कि स्त्रियां शारीरिक दृष्टि से भी पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती हैं, उनसे कठोर श्रम की अपेक्षा नहीं की जा सकती। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त व्यवस्था दी गयी है।

त्रिसन्ध्यं स्नानमित्युक्तं सुराणामर्चनं तथा।
बन्धुमध्ये व्रतं तासां कृच्छ्र-चान्द्रायणादिकम्॥ 59॥
गृहेषु सततं तिष्ठेच्छुचिर्नियममाचरेत्।
इह यो गोवधं कृत्वा प्रच्छादयितुमिच्छति॥ 60॥

स्त्रियों के लिए कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत की विधि इस प्रकार है—अपने बन्धु-बान्धवों के मध्य रहते हुए उन्हें त्रिकाल प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल—स्नान तथा देवपूजन करना चाहिए।

इस प्रकार स्त्रियों को अपने घर में रहकर ही अपने पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए। उन्हें घर से बाहर कहीं जाने की कोई आवश्यकता नहीं। उनके लिए घर में ही पवित्र रहकर नियम-पालन एवं शुद्ध आचरण करना ही उचित एवं शास्त्रसम्मत है।

य याति नरकं घोरं कालसूत्रमसंशयम्।
विमुक्तो नरकात्तस्मान्मर्त्यलोके प्रजायते॥ 61॥
क्लीबो दुःखी च कुष्ठी च सप्तजन्मनि वै नरः।
तस्मात्प्रकाशयेत्पापं स्वधर्मं सततं चरेत्॥ 62॥

गोवध करने अथवा हो जाने पर अपने पाप को कभी छिपाना नहीं चाहिए। गोवध के पाप को छिपाने की इच्छा (चेष्टा नहीं) करने वाला व्यक्ति निस्सन्देह

कालसूत्र नामक नरक को प्राप्त करता है। नरक की यन्त्रणाओं से मुक्त होने के उपरान्त वह इस मृत्युलोक में सात जन्मों तक नपुंसक, रोगी, कोढ़ी और दरिद्र के रूप में उत्पन्न होता है और फिर सारा जन्म दु:ख-शोक से ग्रस्त और अभाव से पीड़ित रहता है।

अत: आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति को अपने द्वारा किये अथवा हो गये गोघात-जैसे पाप को कभी छिपाना नहीं चाहिए, अपितु प्रायश्चित्त करके शुद्ध और पाप-मुक्त हो जाना चाहिए।

स्त्री बाल-भृत्य-गो-विप्रेष्वतिकोपं विवर्जयेत्।

उपदेशात्मक रूप में प्रचलित एक सुभाषित का अर्थ है—

कीचड़ में धंसे पैरों को धोने की अपेक्षा कीचड़ के पास न फटकना कहीं अधिक अच्छा होता है। इसी सन्दर्भ में स्मृतिकार महर्षि पराशर का विवेकशील पुरुषों के लिए सुझाव है—

सज्जनता की अपेक्षा हैं कि व्यक्ति को स्त्रियों, बालकों, सेवकों, गायों और ब्राह्मणों पर अत्यन्त क्रोध तो भूलकर भी नहीं करना चाहिए।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अनुसार—क्रोध से सम्मोह की उत्पत्ति होती है, सम्मोह से स्मृति-विभ्रम हो जाता है, स्मृति में विभ्रान्ति आने का परिणाम बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। इस प्रकार क्रोध एक ऐसा मनोविकार है, जो मनुष्य के पतन का कारण बन जाता है। अत: बुद्धिमान् व्यक्ति को अपने क्रोध पर नियन्त्रण रखना चाहिए। क्रोध पर संयम रखने से मनुष्य अनुचित (पापकर्म) से बच जाता है और फिर प्रायश्चित्त आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती।

यहां यह भी विचारणीय है कि स्त्रियां, बालक और सेवक प्राय: अशिक्षित एवं अप्रशिक्षित होते हैं, उनसे ग़लतियां हो जाने की सम्भावना प्राय: ही बनी रहती है, उनकी ग़लतियों की उपेक्षा करना ही उचित होता है। इसके अतिरिक्त गाय और ब्राह्मण तो पूज्य होते हैं, उन पर क्रोध करना अथवा उन्हें मारना-पीटना तो एक प्रकार का पाप ही है। अत: उनके प्रति सहिष्णुता का प्रदर्शन ही वाञ्छनीय होता है। क्रोध अथवा अतिक्रोध को तो किसी भी रूप में उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

॥ इति गोविपत्तिप्रायश्चित्त नामक नवम अध्याय ॥

दसवां अध्याय

प्रायश्चित्तविधान

चातुर्वर्ण्येषु सर्वेषु हितां वक्ष्यामि निष्कृतिम्।
अगम्यागमने चैव शुद्धौ चान्द्रायणं चरेत्॥ 1॥

महर्षि पराशर बोले—विप्रो! अब मैं आप लोगों को चारों वर्णों के लोगों द्वारा सामान्य रूप से किये जाने वाले पापों से निवृत्ति एवं शुद्धि के उपाय बताऊंगा, जिससे वे लोग अपना उद्धार एवं कल्याण करने में समर्थ हो सकें।

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम अगम्यागमन—सम्बन्ध न जोड़ने योग्य स्त्री से सम्भोग करना—जैसे पाप से निवृत्ति का उपाय सुनिये। इस पाप से मुक्ति एवं शुद्धि का उपाय है—चान्द्रायण व्रत।

एकैकं ह्रासयेद्ग्रासं कृष्णे, शुक्ले च वर्द्धयेत्।
अमावस्यां न भुञ्जीत ह्येष चान्द्रायणो विधिः॥ 2॥

चान्द्रायण व्रत का परिचय देते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—शुक्ल पक्ष की प्रथमा तिथि से पूर्णिमा तक एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए, अर्थात् प्रथमा को एक, द्वितीया को दो तथा तृतीया को तीन ग्रास भोजन लेते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खाने चाहिए। पुनः कृष्ण पक्ष के प्रारम्भ होते ही एक-एक ग्रास घटाते जाना, अर्थात् प्रतिपदा को चौदह, द्वितीया को तेरह और तृतीया को बारह ग्रास लेते हुए अमावस्या को कुछ भी नहीं लेना होता है।

कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु ग्रासं वै परिकल्पयेत्।
अन्यथाजातदोषेण नधर्मो न च शुध्यति॥ 3॥

चान्द्रायण व्रत में ग्रहण किये जाने वाले ग्रासों का परिमाण मुर्गी के अण्डे जितना होना चाहिए, उससे अधिक कदापि नहीं होना चाहिए। अधिक परिमाण एवं भारी आकार के ग्रासों के खाने से न तो पाप से निवृत्ति मिलती है और न ही शुद्धि होती है, उलटे पाप में और अधिक वृद्धि होती है।

प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्।
गोद्वयं वस्त्रयुग्मं च दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम्॥ 4॥

यजमान को चान्द्रायण व्रत को पूर्ण कर चुकने के उपरान्त ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए तथा उसे दक्षिणा में दो वस्त्र—धोती-कुर्ता—तथा दो गाएं सौंपनी चाहिए।

चाण्डालीं वा श्वपाकीं वा ह्यभिगच्छति यो द्विजः।
त्रिरात्रमुपवासित्वा विप्राणामनुशासनात्॥ 5॥
सशिखं वपनं कृत्वा प्राजापत्यद्वयं चरेत्।
ब्रह्मकूर्चं ततः कृत्वा कुर्याद् ब्राह्मणतर्पणम्॥ 6॥
गायत्रीं च जपेन्नित्यं दद्याद् गोमिथुनद्वयम्।
विप्राय दक्षिणां दद्याच्छुद्धिमाप्नोत्यसंशयम्॥ 7॥

चाण्डाली अथवा श्वपाकी को भोगने वाले द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—के प्रायश्चित्त का विधान करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं कि ब्राह्मण को आत्मशुद्धि तथा पाप-निवृत्ति के लिए तीन दिन-रातों तक उपवास करना चाहिए और फिर ब्राह्मणों की आज्ञा से शिखा-सहित सिर के केशों का मुण्डन कराना चाहिए। इसके उपरान्त कृच्छ्र प्राजापत्य व्रत करना चाहिए। इस सारी अवधि में ब्रह्मचारी बने रहना चाहिए। ब्रह्मकूर्च व्रत करके ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।

प्रायश्चित्त की इस अवधि में प्रतिदिन निरन्तर गायत्री मन्त्र का जप करते रहना चाहिए और व्रत की समाप्ति पर ब्राह्मण को दक्षिणा के रूप में दो गाएं और दो बैल सौंपने चाहिए। महर्षि पराशर दक्षिणा में केवल दो गायों का देना पर्याप्त मानते हैं। इस सारे विधान का श्रद्धापूर्वक पालन करने से व्यक्ति निश्चित रूप से शुद्ध एवं पाप-मुक्त हो जाता है।

गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्धिं पाराशरोऽब्रवीत्।
क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा चाण्डालीं गच्छतोऽपि वा॥ 8॥
प्राजापत्यद्वयं कुर्यात् दद्याद्गोमिथुनद्वयम्।
श्वपाकीं वाऽथ चाण्डालीं शूद्रो वा यदि गच्छति॥ 9॥
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं चतुर्गोमिथुनं ददेत्।
मातरं यदि गच्छेत्तु भगिनीं स्वसुतां तथा॥ 10॥
एतास्तु मोहितो गत्वा त्रीणि कृच्छ्राणि सञ्चरेत्।
चान्द्रायणत्रयं कुर्याच्छिश्नच्छेदेन शुध्यति॥ 11॥

महर्षि पराशर अन्य वर्णों—क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र—द्वारा चाण्डाली तथा श्वपाकी के गमन का प्रायश्चित्त इस प्रकार बताते हैं।

क्षत्रिय तथा वैश्य द्वारा चाण्डाली से मैथुन करने पर उन्हें दो प्राजापत्य व्रत करके ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए और उसे दो गाएं और दो बैल दक्षिणा-रूप में सौंपने चाहिए।

मोहवश—रूप-सौन्दर्य पर मुगध होकर, कामुकता के आवेश में अथवा मदिरा आदि के प्रभाव में—कभी अपनी जननी, सहोदरा तथा आत्मजा का अभिगमन करने वाला पापी व्यक्ति तीन कृच्छ्र व्रत और तीन चान्द्रायण व्रत करने के अतिरिक्त अपना लिंग काट-फेंकने पर ही शुद्ध होता है।

मातृष्वसृगमे चैवमात्ममेढ्रनिकर्तनम्।
अज्ञानेन तु यो गच्छेत्कुर्याच्चान्द्रायणत्रयम्॥ 12॥
दशगोमिथुनं दद्याच्छुद्धिं पाराशरोऽब्रवीत्।
पितृदारान्समारुह्य मातुराप्तां च भ्रातृजाम्॥ 13॥

अनजाने—पहचान में ग़लती हो जाना—में मौसी से सम्भोग करने पर द्विज को आत्मशुद्धि के लिए तीन कृच्छ्र व्रत करने चाहिए। जान-बूझकर मौसी के साथ मैथुन करने का दण्ड लिंग काटकर फेंकना है। केवल इस प्रायश्चित्त से ही शुद्धि और पाप-निवृत्ति होती है।

महर्षि पराशर ने तो प्रायश्चित्त के अन्तर्गत दस गायों और दस बैलों के दान को भी जोड़ दिया है।

गुरुपत्नीं स्नुषां चैव भ्रातृभार्यां तथैव च।
मातुलानीं सगोत्रां च प्राजापत्यत्रयं चरेत्॥ 14॥

पिता की स्त्रियों—माता के अतिरिक्त—माता अथवा माता की बहिन बनी सखी, भाई की पुत्री, गुरुपत्नी, बहू—पुत्रवधू—भाई की स्त्री (भाभी), मामी, चाची, बुआ, मौसी, मामा की लड़की आदि के साथ मैथुन का प्रायश्चित्त तीन कृच्छ्र प्राजापत्य व्रत करना है। इस प्रायश्चित्त से व्यक्ति शुद्ध एवं पापमुक्त हो जाता है।

गोद्वयं दक्षिणां दत्वा शुध्यते नात्र संशयः।
पशु-वेश्यादिगमने महिष्युष्ट्री-कपीस्तथा॥ 15॥
खरीं च सूकरीं गत्वा प्राजापत्यव्रतं चरेत्।
गोगामी च त्रिरात्रेण गामेकां ब्राह्मणं ददेत्॥ 16॥

पशु—गाय-घोड़ी आदि—वेश्या (रूपाजीवा), भैंस, ऊंटनी, वानरी, गधी और शूकरी से मैथुन-जैसे पाप का प्रायश्चित्त प्राजापत्य व्रत करना है। गाय के साथ मैथुन करने पर तीन दिन-रात का उपवास करने और ब्राह्मण को दक्षिणा में एक गाय देने से शुद्धि हो जाती है।

महिष्युष्ट्री-खरीगामी त्वहोरात्रेण शुध्यति।
अमरे समरे वाऽपि दुर्भिक्षे वा जनक्षये॥ 17॥
बन्दिग्राहे भयार्तौ वा सदा स्वस्त्रीं निरीक्षयेत्।
चाण्डालैः सह सम्पर्कं या नारी कुरुते ततः॥ 18॥

भैंस, ऊंटनी और गधी से एक ही बार मैथुन करने का प्रायश्चित्त एक दिन-रात उपवास करना है। इससे व्यक्ति शुद्ध हो जाता है। पुरुष को डाका पड़ने पर, युद्ध होने पर, अकाल तथा महामारी पड़ने पर तथा बन्दी बनाये जाने पर तथा राजा अथवा चोर (अपहरण) का भय उत्पन्न होने पर अपनी पत्नी की रक्षा करने का सदैव प्रयास करना चाहिए। पति को चाण्डाल का संग करने वाली अपन कुलटा स्त्री की भी उपर्युक्त आपदाओं—डाका, युद्ध, अकाल, महामारी, बन्दी बनाये जाना तथा चोरों द्वारा घेरा जाना—में रक्षा करनी चाहिए। उसकी चारित्रिक दुष्टता के कारण संकट में उसे अकेला छोड़ देना उचित नहीं।

विप्रान्दश वरान्कृत्वा स्वकं दोषं प्रकाशयेत्।
आकण्ठसम्मिते कूपे गोमयोदककर्दमे॥ 19॥
तत्र स्थित्वा निराहारा त्वहोरात्रेण निष्क्रमेत्।
सशिखं वपनं कृत्वा भुञ्जियाद्यावकौदनम्॥ 20॥
त्रिरात्रमुपवासित्वा त्वेकरात्रं जले वसेत्।
शङ्खपुष्पीलतामूलं पत्रं वा कुसुमं फलम्॥ 21॥
सुवर्णं पञ्चगव्यं च क्वाथयित्वा पिबेज्जलम्।
एकभक्तं चरेत्पश्चाद्यावत् पुष्पवती भवेत्॥ 22॥

पति को विवशतावश चाण्डाल का संग करने वाली अपनी स्त्री की संकटकाल में रक्षा करना तो कर्तव्य-कर्म होने से सर्वथा उचित ही है, परन्तु महर्षि पराशर के अनुसार उसे अपनाने से पूर्व उससे निम्नोक्त प्रायश्चित्त कराना चाहिए।

सर्वप्रथम उस स्त्री को दस उत्कृष्ट कोटि के चरित्रवान् एवं विद्वान् ब्राह्मणों के समक्ष अपना अपराध स्वीकार करना चाहिए। उसे अपने शरीर पर गोबर मलकर

किसी कूप, पोखर अथवा तालाब के जल में दिन-रात गले तक डूबे रहना चाहिए। पूरा दिन-रात जल में गले तक डूबकर खड़े रहने के उपरान्त दूसरे दिन बाहर निकलकर—शिखा (चोटी) सहित मुण्डन कराना चाहिए और जौ का भात खाना चाहिए। उसके पश्चात् उस कुलटा स्त्री को तीन दिनों तक उपवास और पुनः एक दिन-रात जल में खड़े रहना चाहिए। सातवें दिन (एक दिन-रात जल में, दूसरे दिन जौ का भात खाना, पुनः तीन दिन उपवास और छठे दिन पुनः जल में ठहरना) शंख, पुष्प लता के फल अथवा पुष्प अथवा जड़ अथवा पत्ते लेकर पञ्चम के साथ जल में औटाना और उस जल को पीना चाहिए। रजस्वला न होने तक केवल एक समय भोजन करना चाहिए।

व्रतं चरति तद्यावत्तावत्संवसेत बहिः।
प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्॥ 23॥
गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्धिं पाराशरोऽब्रवीत्।
चातुर्वर्ण्यस्य नारीणां कृच्छ्रं चान्द्रायणं स्मृतम्॥ 24॥

चाण्डाल-सहवासिनी को व्रत की अवधि में अपने पति के घर में प्रवेश न लेकर बाहर ही निवास करना चाहिए। प्रायश्चित्त के पूर्ण होने पर, अर्थात् ऋतुस्नान के उपरान्त शुद्ध होने पर उसे ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए तथा दो गाएं दक्षिणा में देनी चाहिए।

इस प्रायश्चित्त के उपरान्त स्त्री चाण्डाल के सहवास के पाप से मुक्त और शुद्ध हो जाती है, अर्थात् पति द्वारा पुनः ग्रहण करने योग्य हो जाती है—महर्षि पराशर की ऐसी व्यवस्था है।

चारों वर्णों की स्त्रियों द्वारा स्वेच्छा से चाण्डाल का संग करने पर वे एक कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करने से शुद्ध हो जाती हैं।

टिप्पणी—यह सचमुच आश्चर्य का विषय है कि स्वेच्छा से चाण्डाल का संग करने का दण्ड (प्रायश्चित्त) साधारण है और विवशतावश (बलात्कार) किये चाण्डाल के संग का दण्ड भारी है—यह तो उलटी गंगा बहाना हुआ। जो स्त्री गुपचुप चाण्डाल का संग करे, उसके लिए तो केवल एक चान्द्रायण व्रत ही पर्याप्त प्रायश्चित्त है और जो बेचारी चोरों द्वारा अपहृत होकर चाण्डाल की वासना का शिकार हो जाये, उसे घोर प्रायश्चित्त करना पड़े। यह विपरीत स्थिति बड़ी ही अटपटी लगती है।

यथाभूमिस्तथा नारी तस्मात्तां न तु दूषयेत्।
बन्दिग्राहेण या भुक्ता हत्वा बद्धा बलाद्भयात्॥ 25॥
कृत्वा सान्तपनं कृच्छ्रं शुध्येत्पाराशरोऽब्रवीत्।
सकृद्भुक्ता तु या नारी नेच्छन्ती पापकर्मभिः॥ 26॥

स्त्री को पृथ्वी के समान ही सर्वथा निर्दोष, शुद्ध व पवित्र समझना चाहिए। जिस प्रकार पृथ्वी के पूर्व भुक्ता होने पर भी उसे अपनाने में दोष नहीं माना जाता, उसी प्रकार स्त्री की किसी अन्य द्वारा भुक्ता होने पर उसे भोगने में भी दोष नहीं मानना चाहिए।

महर्षि पराशर के अनुसार—बलात्कार का शिकार बनी, बांधकर, मार-पीटकर, डरा-धमकाकर अथवा दासी बनाकर केवल एक बार भोगी गयी स्त्री, सान्तपन कृच्छ्र व्रत करने से शुद्ध हो जाती है।

प्राजापत्येन शुध्येत ऋतुप्रस्त्रवणेन च।
पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत्॥ 27॥
पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते।
गायत्रीं जपमानस्तु कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्॥ 28॥

सुरापान करने वाली स्त्री का स्त्रीत्व नष्ट हो जाता है, वह अपने पति की अर्द्धांगिनी नहीं रह पाती। ऐसी स्त्री की किसी साधन से शुद्धि नहीं होती। ऐसी स्त्री के पति को अपनी पत्नी की शुद्धि एवं पाप-मुक्ति के लिए गायत्री का जाप तथा कृच्छ्र सान्तपन व्रत करना चाहिए।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥ 29॥

कृच्छ्र सान्तपन व्रत का विधान इस प्रकार से है—प्रथम दिन गोमूत्र पीकर रहना, दूसरे दिन गोबर पर, तीसरे दिन गोदुग्ध पर, चतुर्थ दिन गाय के दूध को जमाकर बनायी गयी दही पर, पांचवें दिन गोघृत पर और छठे दिन कुशा-जल पीकर निर्वाह करना तथा सातवें दिन पूर्ण उपवास करना—कृच्छ्र सान्तपन व्रत कहलाता है।

जारेण जनयेद्गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ।
तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्॥ 30॥

पति के दिवंगत होने पर, पति द्वारा त्याग दिये जाने पर अथवा पति के विदेश गमन करने पर जार से गर्भधारण करने वाली पापिनी स्त्री को तत्काल निर्वासित कर देना चाहिए। राजा को ऐसी कुलटा स्त्री को अपने देश में सर्वथा नहीं रहने देना चाहिए; क्योंकि साध्वी स्त्रियों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है व वातावरण दूषित होता है।

ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत्परपुंसा समन्विता।
सा तु नष्टा विनिर्दिष्टा न तस्याऽऽगमनं पुनः॥ 31॥

परपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली ब्राह्मणी नष्टा-भ्रष्टचरित्र होने से अपने स्थान से पतिता—कहलाती है। ऐसी ब्राह्मणी—अपने पति का परित्याग कर परपुरुष का हाथ पकड़ने वाली—एक बार घर से बाहर पैर रखने पर पुनः गृह-प्रवेश की अधिकारिणी नहीं रहती। ऐसी ब्राह्मणी सदा के लिए 'त्यक्ता' हो जाती है।

अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणी को अनुचित पग उठाने से पूर्व परिणाम पर दस बार विचार कर लेना चाहिए।

कामान्मोहात्तु या गच्छेत्त्यक्त्वा बन्धून्सुतान्पतिम्।
साऽपि नष्टा परे लोके मानुषेषु विशेषतः॥ 32॥

कामुकता अथवा मोह से अन्धी (विवेकशून्य) होकर अपने बन्धु-बान्धवों, पुत्रों तथा पति की उपेक्षा करके, अर्थात् उनका परित्याग करके परपुरुष का आश्रय लेने वाली ब्राह्मणी इस लोक में तो अपमानित-कलंकित होती ही है, उसका परलोक भी नष्ट हो जाता है, वहां भी उसकी दुर्गति होती है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणी को लोक-परलोक को बिगाड़ने वाला कार्य कभी नहीं करना चाहिए। ब्राह्मणी को अपने को काम अथवा मोह के अधीन करके अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए। निस्सन्देह काम, मोह आदि पर विजय पाना कठिन साधना है, परन्तु इन विकारों पर विजय पाना ही तो मानव-जीवन की सफलता है।

मद-मोहगता नारी क्रोधाद्दण्डादिताडिता।
अद्वितीया गता चैव पुनरागमनं भवेत्॥ 33॥

रूप के मद से गर्विता तथा मोह से अन्धी बनी ब्राह्मणी अपने बन्धु, पुत्र तथा पति आदि को छोड़कर परपुरुष का पल्लू पकड़ तो लेती है, परन्तु परपुरुष के क्रोधी स्वभाव और पीटने की प्रवृत्ति से व्यथित होकर अपनी मूर्खता पर पछताती हुई अकेली अपने पति के पास लौट आती है, अर्थात् अपनी भूल पर लज्जित होकर

क्षमायाचना करती और वेदना से व्यथित होती है, तो पति को ऐसी स्त्री—सुबह की भूली शाम को घर लौटी—को फिर से अपना लेना चाहिए। उस असहाय को संकट में अकेला भटकने के लिए छोड़ नहीं देना चाहिए।

दशमे तु दिने प्राप्ते प्रायश्चित्तं न विद्यते।
दशाहं न त्यजेन्नारीं त्यजेन्नष्टश्रुतां तथा॥ 34॥

कामवश, क्रोधवश अथवा मोहवश अपने पति-पुत्र को छोड़कर परपुरुष के आश्रय में गयी ब्राह्मणी के पति को उसके लौटने की दस दिनों तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। अत: दस दिनों तक उसे परित्यक्ता नहीं मानना चाहिए। यदि वह इस अवधि में लौट आती है, तो उसे ग्रहण करने पर विचार करना चाहिए। हां, यदि वह परपुरुष की अंकशयिनी बन गयी है, तो उस भ्रष्टचरित्रा को पतित और अग्राह्य मानना चाहिए। इस स्थिति में दस दिनों की प्रतीक्षा की अवधि का अस्तित्व स्वत: समाप्त हो जाता है।

भर्ता चैव चरेत्कृच्छ्रं कृच्छ्रार्द्धं चैव बान्धवा:।
तेषां भुक्त्वा च पीत्वा च ह्यहोरात्रेण शुध्यति॥ 35॥

काम, मोह आदि के आवेश में आकर अपने पति-पुत्र आदि का परित्याग करके परपुरुष को अपनाने वाली ब्राह्मणी के दस दिनों के भीतर लौट आने पर उसे स्वीकार करने को सहमत उसके पति को उसकी शुद्धि के लिए एक कृच्छ व्रत तथा स्त्री के बन्धु-बान्धवों को अर्ध कृच्छ्र व्रत करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इष्ट-मित्रों और बन्धु-बान्धवों को पतिता ब्राह्मणी के पति द्वारा आयोजित भोज को ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् सामाजिक बहिष्कार को तिलाञ्जलि देकर उसके साथ पूर्ववत् खान-पान कर सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत्परपुंसा विवर्जिता।
गत्वा पुंसां शतं याति त्यजेयुस्तां तु गोत्रिण:॥ 36॥

काम, क्रोध अथवा मोह के आवेश में आकर पति-पुत्र को छोड़कर एक के पश्चात् दूसरे पुरुष का वरण करने वाली मूर्ख ब्राह्मणी के सौ (असंख्य) पुरुषों का संग करने के उपरान्त अपने पति के घर लौट आने पर न केवल उसके पति को, अपितु उसके सभी सगोत्रों—बन्धु-बान्धवों—को भी उस दुष्टा का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसी पुंश्चली के प्रति किसी प्रकार की दया-ममता नहीं दिखानी चाहिए।

पुंसो यदि गृहे गच्छेत्तदशुद्धं गृहं भवेत्।
पति-मातृगृहं यच्च जारस्यैव तु तद्गृहम्॥ 37॥

ऐसी दुष्टा पुंश्चली ब्राह्मणी के पतिगृह में पैर रखते ही वह घर अपवित्र हो जाता है। वह पतिता अपने मायके अथवा ससुराल में जहां भी जाती है, वही उसके जार का घर होता है, अर्थात् अशुद्ध-अपवित्र हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि अनेक पुरुषों से सम्बन्ध जोड़ने वाली स्त्री ब्राह्मणी होने पर भी चाण्डाल के सामन अस्पृश्य एवं अग्राह्य कहलाती है।

उल्लिख्य तद्गृहं पश्चात्पञ्चगव्येन शोधयेत्।
त्यजेच्च मृण्मयं पात्रं वस्त्रं काष्ठं च शोधयेत्॥ 38॥

ऐसी कुलटा ब्राह्मणी जिस भी घर में प्रवेश करे, उस घर को शुद्ध-पवित्र बनाने के लिए धरती की खुदाई करके ऊपरी परत की मिट्टी बाहर फेंक देनी चाहिए और फिर उस धरती को पञ्चगव्य से लीपना चाहिए। घर में उसके प्रवेश से उसकी छाया के पड़ने से दूषित हुए मिट्टी के बरतनों को तोड़-फोड़ डालना चाहिए और बाहर फेंक देना चाहिए। लकड़ी के सामान—बरतन, मेज़, कुर्सी, चौकी आदि—तथा वस्त्रों को जल से धोकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

सम्भारांश्छोधयेत्सर्वान् गोवालैश्च फलोद्भवान्।
ताम्राणि पञ्चगव्येन कांस्यानि दश भस्मभिः॥ 39॥

इसके अतिरिक्त घर में प्रविष्ट पुंश्चली ब्राह्मणी की छाया से दूषित अन्यान्य वस्तुओं को निम्नोक्त रूप से शुद्ध करना चाहिए—फलों-पुष्पों को जल से प्रक्षालित करना चाहिए। पके अन्न व मोदक आदि को गाय के बालों के स्पर्श से, तांबे के पात्रों एवं ताम्र से निर्मित अन्यान्य वस्तुओं को पञ्चगव्य से तथा कांसे के बरतनों आदि को दस बार भस्म से मांजना चाहिए।

प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रो ब्राह्मणैरुपपादितम्।
गोद्वयं दक्षिणां दद्यात्प्राजापत्यद्वयं चरेत्॥ 40॥

उपर्युक्त प्रकार—बहु-पुरुष-भुक्ता एवं बहु-पुरुष-कामिनी ब्राह्मणी—के पति के ब्राह्मण होने पर और उस दुष्टा के पति के घर में प्रविष्ट होने पर पति कहलाने वाले ब्राह्मण को दूसरे ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त करना चाहिए। ब्राह्मणों द्वारा व्यवस्था न देने पर कुलटा ब्राह्मणी के पति ब्राह्मण को दो कृच्छ्र प्राजापत्य व्रत

करने चाहिए तथा ब्राह्मणों को दो गाएं दान-दक्षिणा में अर्पित करनी चाहिए।

इतरेषामहोरात्रं पञ्चगव्येन शोधनम्।
उपवासैर्व्रतैः पुण्यैः स्नानसन्ध्याऽर्चनादिभिः ॥ 41 ॥

बहु-पुरुष कामिनी पुंश्चली के पति के ब्राह्मण से भिन्न वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र—होने पर और कुलटा स्त्री के अपने पति के घर में घुस आने पर व्यक्ति पञ्चगव्य के सेवन से, उपवास-व्रत करने से, स्नान, सन्ध्यावन्दन तथा दान-पुण्य आदि करने से शुद्ध एवं पाप-मुक्त हो जाता है।

जप-होम-दया-दानैः शुध्यन्ते ब्राह्मणादयः।
आकाशं वायुरग्निश्च मेध्यं भूमिगतं जलम्॥ 42 ॥
न प्रदुष्यन्ति दर्भाश्च यज्ञेषु चमसा यथा।

निष्कर्षतः ब्राह्मण आदि सभी वर्णों के लोग स्नान, दान, व्रतोपवास तथा अर्चन-पूजन आदि से शुद्ध-पवित्र हो जाते हैं। जिस प्रकार यज्ञ में चमस (घृत की आहुति देने के लिए लम्बी डण्डी से बना पात्र स्रुवा अथवा चमसा आदि सदा पवित्र बने रहते हैं, कभी अपवित्र नहीं होते, उसी प्रकार पुंश्चली की छाया से आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी के भीतर तथा ऊपर पड़ा जल और कुशा (घास) आदि भी कभी अपवित्र नहीं होते, वे सदैव शुद्ध-पवित्र ही बने रहते हैं। अतः इनके शोधन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

॥ इति प्रायश्चित्तविधान नामक दशम अध्याय ॥

ग्यारहवां अध्याय

पापों का प्रायश्चित्त विधान

अमेध्य-रेतो गोमांसं चाण्डालान्नमथापि वा।
यदि भुक्तं तु विप्रेण कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत्॥ 1॥

ब्राह्मण द्वारा अमेध्य (अपवित्र होने से अस्पृश्य एवं अभक्ष्य पदार्थ)—पुरुष का वीर्य, स्त्री का रज, गोमांस, चाण्डाल का अन्न, मल, मूत्र, वसा, अस्थि, स्वेद तथा श्लेष्मा आदि—स्वेच्छापूर्वक, अर्थात् जान-बूझकर—खा लेने पर आत्मशुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। अनजाने में खाये गये अमेध्य पदार्थ के प्रायश्चित्त के लिए प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत करना चाहिए।

तथैव क्षत्रियो वैश्योऽप्यर्द्धं चान्द्रायणं चरेत्।
शूद्रोऽप्येवं यदा भुङ्क्ते प्राजापत्यं समाचरेत्॥ 2॥

क्षत्रिय अथवा वैश्य द्वारा किसी भी एक अमेध्य पदार्थ का जाने-अनजाने सेवन करने पर शुद्धि के लिए अर्ध चान्द्रायण कृच्छ्र व्रत करना चाहिए। शूद्र द्वारा भी किसी अमेध्य वस्तु के सेवन करने का प्रायश्चित्त प्राजापत्य व्रत का अनुष्ठान है।

पञ्चगव्यं पिबेच्छूद्रो ब्रह्मकूर्चं पिबेद् द्विजः।
एक-द्वि-त्रि-चतुर्गावो दद्याद्विप्राद्यनुक्रमात्॥ 3॥

अमेध्य वस्तु के सेवन के पाप के प्रायश्चित्त के रूप में व्रत करने के उपरान्त शूद्र को पञ्चगव्य पीना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ब्रह्मकूर्च—पलाश, गूलर, पद्म, बिल्व-पत्र तथा कुशों को कूट-पीस कर बनाया गया क्वाथ और पञ्चगव्य—कपिला गाय के मूत्र, कृष्णवर्णा गाय के गोबर, श्वेतवर्णा गाय के दूध, पीतवर्णा गाय के दही, चितकबरी गाय के घी और कुशों के जल के मिश्रण से बने पेयद्रव्य को पीना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण को एक, क्षत्रिय को दो, वैश्य को तीन तथा शूद्र को चार गाएं कर्मकाण्डी ब्राह्मण को दान में देनी चाहिए।

शूद्रान्नं सूतकान्नञ्च ह्यभोज्यस्यान्नमेव च।
शङ्कितं प्रतिषिद्धान्नं पूर्वोच्छिष्टं तथैव च॥ 4॥
यदि भुक्तं तु विप्रेण ह्यज्ञानादापदाऽपि वा।
ज्ञात्वा समाचरेत्कृच्छ्रं ब्रह्मकूर्चं तु पावनम्॥ 5॥

निम्नोक्त निषिद्ध अन्नों का सेवन, भले ही अज्ञानवश अथवा विपत्तिकाल में किया गया हो, करने वाले ब्राह्मण को निम्न प्रकार से प्रायश्चित्त करना चाहिए—1. शूद्र का अन्न, 2. सूतक—सन्तानोत्पत्ति के कारण अशुद्ध-अपवित्र व्यक्ति का अन्न, 3. चन्द्र-सूर्य ग्रहण में परोसा गया अन्न, 4. अभोज्य—पतित, दुष्ट, जाति-बहिष्कृत तथा पंक्ति में बैठने के अयोग्य—घोषित व्यक्ति का अन्न, 5. शंकित—मक्खी-मच्छर, कीट-मकोट आदि पड़ने से दूषित खाने योग्य है अथवा नहीं—इस प्रकार की शंका वाला अन्न, 6. प्रतिषिद्ध—शिवजी आदि देवों पर चढ़ाया गया निर्माल्य (शास्त्रों में असेव्य निर्दिष्ट) अन्न तथा 7. पूर्वोच्छिष्ट—पहले से अन्न (स्वयं अथवा दूसरों द्वारा) खाकर जूठा छोड़ा गया अन्न।

उपर्युक्त प्रकार के अंसख्य अन्नों का किसी भी स्थिति—अज्ञान अथवा संकटकाल—में सेवन करने वाले ब्राह्मण को वास्तविकता का ज्ञान होते ही कृच्छ्र व्रत करके ब्रह्मकूर्च व्रत में निर्दिष्ट पदार्थों—पलाश, गूलर, पद्म, बिल्वफल और कुश में क्वाथ का तथा पञ्चगव्य—कपिला गाय का मूत्र, कृष्णा गाय का गोबर, श्वेता का दुग्ध, पीता की दधि तथा कबरी के घृत—के साथ कुश्मेदक का पान करना चाहिए। इस प्रायश्चित्त के उपरान्त ही ब्राह्मण पाप-मुक्त एवं शुद्ध होता है।

टिप्पणी—शास्त्रमर्यादा के अनुसार अपवित्र ब्राह्मण को सन्ध्यावन्दन तथा देव-पूजन आदि का कोई अधिकार नहीं होता। सन्ध्या, यज्ञ, जप आदि किये बिना भोजन करने वाला ब्राह्मण पतित कहलाता है। अतः यज्ञ-यागादि करने की पात्रता के लिए उसका शुद्ध-पवित्र होना अनिवार्य है।

बालैर्नकुल-मार्जारैरन्नमुच्छिष्टितं यदा।
तिल-दर्भोदकैः प्रोक्ष्य शुध्यते नात्र संशयः॥ 6॥

छोटी आयु (पांच वर्ष से कम) के बालक, नेवला तथा बिल्ली द्वारा जूठा किया गया अन्न तिल और कुशा मिश्रित जल से प्रोक्षण (छींटा देना) किये जाने पर निस्सन्देह शुद्ध हो जाता है।

शूद्रोऽप्यभोज्यं भुक्त्वान्नं पञ्चगव्येन शुध्यति।
क्षत्रियो वाऽपि वैश्यश्च प्राजापत्येन शुध्यति॥ 7॥

अभक्ष्य—मलिन, उच्छिष्ट, वर्जित तथा सूतक-ग्रहणकाल आदि का अन्न—अन्न का सेवन करने वाला शूद्र पञ्चगव्य को पीने से शुद्ध-पवित्र हो जाता है। उपर्युक्त प्रतिषिद्ध अन्नों का अज्ञानवश अथवा संकट की स्थिति में ही क्यों न हो—सेवन करने वाले वैश्य तथा क्षत्रिय को आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में प्राजापत्य व्रत करना चाहिए।

टिप्पणी—कभी-कभी संकटकाल—दुर्भिक्ष आदि—में कुछ भी खाद्य पदार्थ के सुलभ न होने पर प्राण-रक्षा के लिए अभक्ष्य-भक्षण करना पड़ जाता है। इतिहास में महर्षि विश्वामित्र द्वारा कुत्ते के मांस के सेवन का उदाहरण मिलता है। यह स्थिति क्षमा के योग्य है, परन्तु स्थिति के सुधरने पर प्रायश्चित्त करना आवश्यक हो जाता है।

एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सह भोजने।
यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्॥ 8॥
मोहाद्भुञ्जीत यस्तत्र पङ्क्तावुच्छिष्टभोजने।
प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सान्तपनं तथा॥ 9॥

एक पंक्ति में बैठे और भोजन करते ब्राह्मणों में से किसी एक भी ब्राह्मण द्वारा भोजन में किसी दोष के मिलने के कारण भोजन का परित्याग करने पर शेष सभी ब्राह्मणों को तत्काल भोजन करना बन्द कर देना चाहिए। ऐसा भोजन उच्छिष्ट कहलाता है और उसका सेवन वर्जित है।

दूसरे ब्राह्मणों द्वारा भोजन का त्याग कर दिये जाने पर भी मोहवश अथवा जिह्वा-लोलुपतावश उच्छिष्ट माने गये भोजन का सेवन करने वाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त के रूप में कृच्छ्र सान्तपन व्रत करना चाहिए, अन्यथा वह पतित एवं भ्रष्ट बना रहता है।

पीयूषं श्वेतलशुनं वृन्ताकफल-गृञ्जने।
पलाण्डुं वृक्षनिर्यासं देवस्वं कवकानि च॥। 10॥
उष्ट्रीक्षीरमविक्षीरमज्ञानाद्भुञ्जते द्विजः।
त्रिरात्रमुपवासेन पञ्चगव्येन शुध्यति॥ 11॥

अनजाने में निम्नोक्त दस पदार्थों को खाने-पीने वाले ब्राह्मण को आत्मशुद्धि

के लिए प्रायश्चित्त के रूप में तीन दिन-रात पूर्ण उपवास करना चाहिए और व्रत की समाप्ति पर पञ्चगव्य का पान करना चाहिए—

1. पीयूष—नयी प्रसूता गाय का दूध (इक्कीस दिनों तक उस दूध पर केवल बछड़े का अधिकार होता है।), 2. सफ़ेद लहसुन, 3. सफ़ेद बैगन का भरता, 4. गृंजन, अर्थात् लाल अथवा सफ़ेद रंग का शलज़म, मूली तथा गाजर आदि, 5. प्याज़, 6. वृक्षों का रस—चोट मारकर बहाया-निकाला चिकना द्रव (गोंद), 7. देवस्व—देवों को अर्पित मोदक, फल, नैवेद्य आदि, 8. कुकुरमुत्ता (खुम्बी), 9-10. ऊंटनी तथा भेड़ का दूध। इन दस वस्तुओं का सेवन करने वाला ब्राह्मण तीन दिनों के उपवास के उपरान्त पञ्चगव्य का पान करने से शुद्ध एवं पाप-मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में उपर्युक्त निषिद्ध पदार्थों के सेवन को स्वास्थ्य के लिए उपयोगी माना गया है। लगता है कि हमारे ऋषियों ने इन पदार्थों की दूषित गन्ध के कारण इनके प्रयोग का निषेध किया है। आज तो प्याज़, लहसुन आदि को छोड़कर इन सभी पदार्थों का प्रयोग बहुप्रचलित है। सत्य तो यह है कि दस-बीस प्रतिशत लोगों को छोड़कर भारत के शेष लोगों में प्याज़-लहसुन का पर्याप्त प्रचलन है। इस प्रकार महर्षि पराशर का उपर्युक्त कथन आज के युग में अप्रासंगिक हो गया है।

प्राचीनकाल में देवों पर चढ़ायी गयी सामग्री—वस्त्र, फल तथा मिष्टान्न आदि—पर केवल पुजारी (नित्य पूजा करने वाला ब्राह्मण) का अधिकार होता था। अत: भक्तों के लिए उनका प्रयोग वर्जित था, परन्तु न जाने कब विष्णु तथा उसके अवतारों—राम तथा श्रीकृष्ण आदि— पर चढ़ायी सामग्री का प्रसाद-रूप में सेवन तो प्रचलित हो गया, परन्तु शिवजी पर चढ़ाये जाने वाले जल—शिवाम्बु तथा फल, मिठाई आदि को निर्माल्य मानते हुए उसका प्रयोग वर्जित बना रहा। एक समय शिवाम्बु—शिवजी पर चढ़ाया गया जल तथा फल—मिष्टान्न आदि निषिद्ध पदार्थों—मलमूत्र—के पर्यायों के रूप में जाने जाते रहे, परन्तु आज यह धारणा भी बदल चुकी है। आज तो श्रद्धालु भक्त चरणामृत और शिवजी पर चढ़ाये फल को प्रसाद-रूप में स्वच्छन्द रूप से ग्रहण करने लगे हैं। अत: यहां भी महर्षि पराशर का कथन अप्रासंगिक हो गया है।

मण्डूकं भक्षयित्वा तु मूषिकामांसमेव च।
ज्ञात्वा विप्रस्त्वहोरात्रं यावकान्नेन शुध्यति॥ 12॥

जान-बूझकर मेढक अथवा चूहे के मांस को खाने वाले ब्राह्मण को एक

दिन-रात जौ के सत्तू खाकर निर्वाह करना चाहिए। इसी से वह शुद्ध एवं पाप-मुक्त हो जाता है।

क्षत्रियश्चापि वैश्यश्च क्रियावन्तौ शुचिव्रतौ।
तद्गृहे तु द्विजैर्भोज्यं हव्य-कव्येषु नित्यशः॥ 13॥

सदैव शुद्ध-पवित्र आचरण वाले तथा यज्ञ-यागादि धर्म-कार्यों को सम्पन्न करने में सोत्साह प्रवृत्त होने वाले क्षत्रियों और वैश्यों द्वारा किये जाने वाले देव-पूजन तथा श्राद्ध, तर्पण आदि पुण्य अवसरों पर अछूत ब्राह्मणों को उनका निमन्त्रण सदैव, सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए।

घृतं तैलं तथा क्षीरं गुडं स्नेहेन पाचितम्।
गत्वा नदीतटे विप्रो भुञ्जीयाच्छूद्रभोजनम्॥ 14॥

तेल, दूध, घृत तथा गुड़ आदि के मिश्रण से बने और शूद्र द्वारा समर्पित पकवान को सेवन करने के इच्छुक ब्राह्मण को शूद्र के घर में बैठकर तो कभी भूलकर भी कुछ नहीं खाना चाहिए। हां, वह नदीतट पर जाकर शूद्र के अन्न का सेवन कर सकता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि शूद्र के अन्न के सेवन का अधिकार केवल ब्राह्मण को है, क्षत्रिय और वैश्य को किसी भी स्थिति में शूद्र के अन्न का सेवन नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी—शूद्र के घर में बैठकर खाने से मनाही के पीछे स्वच्छता को महत्त्व देना ही प्रतीत होता है। सामान्यतः शूद्र के घर का परिवेश दूषित होता है। यही कारण है कि ब्राह्मण को नदीतट—शुद्ध वातावरण तथा नहाने-धोने की सुविधा से सम्पन्न स्थान—में जाकर भोजन ग्रहण करने का विधान किया गया है।

मद्यमांसरतं नित्यं नीचकर्मप्रवर्तकम्।
तं शूद्रं वर्जयेद्विप्रः श्वपाकमिव दूरतः॥ 15॥

नित्य मद्य-मांस का सेवन करने वाले तथा नीच कर्म में प्रवृत्त रहने वाले शूद्र को तो चाण्डाल मानकर उसक. दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए। ऐसे पतित शूद्र के अन्न का प्रयोग करने वाला ब्राह्मण भ्रष्ट हो जाता है।

द्विजशुश्रूणरतान्मद्यमांसविवर्जितान् ।
स्वकर्मणि रतान्नित्यं न तांश्छूद्रान् त्यजेद् द्विजः॥ 16॥

सदैव ब्राह्मणों की सेवा में लगे रहने वाले, मद्य, मांस आदि निषिद्ध पदार्थों

का सेवन न करने वाले तथा अपने कर्तव्य-कर्म के निर्वहण के प्रति सजग एवं सचेष्ट रहने वाले शूद्रों का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए, अपितु उन्हें आदर्श मानकर यथोचित सम्मान देना चाहिए।

अज्ञानाद् भुञ्जते विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा।
प्रायश्चित्तं कथं तेषां वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत्?॥ 17॥

अनजाने में (यजमान द्वारा न बताने तथा ब्राह्मण को जानकारी न होने पर) यजमान की जातक (सूतक) अथवा मृतक (पातक) आदि अपवित्रता में ब्राह्मण द्वारा उसके घर पर भोजन कर लेने का प्रायश्चित्त वर्ण के क्रम के अनुसार निम्नोक्त रूप से है।

गायत्र्यष्टसहस्रेण शुद्धिः स्याच्छूद्रसूतके।
वैश्ये पञ्चसहस्रेण त्रिसहस्रेण क्षत्रिये॥ 18॥

सूतक (सन्तानोत्पत्ति) आदि अपवित्रता वाले क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र यजमान के घर वस्तुस्थिति से अपरिचित ब्राह्मण द्वारा भोजन करने पर आत्मशुद्धि के प्रायश्चित्त के रूप में उसे (ब्राह्मण को) गायत्री मन्त्र का क्रमशः तीन सहस्र, पांच सहस्र तथा आठ सहस्र संख्या में जाप करना चाहिए।

ब्राह्मणस्य यदा भुङ्क्ते द्वे सहस्रे तु दापयेत्।
अथवा वामदेव्येन साम्नैवैकेन शुध्यति॥ 19॥

इसी प्रकार सूतक वाले ब्राह्मण के घर में वास्तविकता से अपरिचित ब्राह्मण द्वारा भोजन कर लेने का प्रायश्चित्त गायत्री मन्त्र का दो सहस्र संख्या में जाप अथवा वामदेव्य साम का एक पाठ है। इन दोनों में किसी एक को कर लेने पर ब्राह्मण शुद्ध और पाप-मुक्त हो जाता है।

शुष्कान्नं गोरसं स्नेहं शूद्रवेश्मन आहृतम्।
पक्वं विप्रगृहे भुक्तं भोज्यं तन्मनुरब्रवीत्॥ 20॥

महाराज मनु के अनुसार—शूद्र के घर से सूखे अन्न (आटा, चावल आदि) कच्चा दूध और घी-तेल आदि को लाकर ब्राह्मण के घर में पकाने पर उसके सेवन में किसी प्रकार का कोई दोष नहीं लगता।

आपत्कालेषु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।
मनस्तापेन शुध्येत द्रुपदां वा जपेच्छतम्॥ 21॥

आपत्तिकाल—दुर्भिक्ष, दरिद्रता अथवा क्षुधातुरता में शूद्र के घर में भोजन करने वाला ब्राह्मण अपने मन में सन्ताप करने से, अपने कृत्य पर आत्मग्लानि अनुभव करने से अथवा—**द्रुपदादिव मुमुचानः** मन्त्र का सौ बार जाप करने से शुद्ध हो जाता है।

दास-नापित-गोपाल-कुलमित्राऽर्धसीरिणः।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्॥ 22॥

अपने दास, नापित, गोपाल, कुल-परम्परा से चले आ रहे मित्र, अर्द्धसीरी अथवा आर्द्धिक (आधा ब्राह्मण) तथा आत्मसमर्पण करने वाले शूद्र के अन्न को ग्रहण करने पर व्यक्ति को कोई दोष नहीं लगता।

शूद्रकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः।
असंस्काराद्भवेद्दासः संस्कारादेव नापितः॥ 23॥

उपर्युक्त दास, नापित आदि को परिभाषित करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—

ब्राह्मण के वीर्य को धारण करने वाली शूद्र कन्या—(कुमारी, विवाहिता स्त्री नहीं)—के गर्भ से उत्पन्न बालक संस्कार कर दिये जाने पर नापित और संस्कृत (विद्याध्ययन के लिए अनुमत होने का संकेतक न किये जाने पर) यज्ञोपवीत संस्कार न होने पर दास कहलाता है।

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां समुत्पन्नस्तु यः सुतः।
स गोपाल इति ख्यातो भोज्यो विप्रैर्न संशयः॥ 24॥

क्षत्रिय के वीर्य को धारण करने वाली शूद्र कन्या के उदर से जन्म लेने वाला बालक 'गोपाल' कहलाता है। उसके अन्न का सेवन करने में तो ब्राह्मण को किसी प्रकार का संशय अथवा सोच-विचार करना ही नहीं चाहिए।

वैश्यकन्यासमुद्भूतो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः।
सो ह्यार्द्धिक इति ज्ञेयो भोज्यो विप्रैर्न संशयः॥ 25॥

ब्राह्मण के वीर्य से और वैश्य कन्या के गर्भ से उत्पन्न तथा यज्ञोपवीत संस्कार किया गया बालक आर्द्धिक अथवा अर्द्धसीरी—आधा ब्राह्मण—कहलाता है। उसके अन्न का सेवन करने से भी ब्राह्मणों को किसी प्रकार कोई दोष नहीं लगता। उसके अन्न को शुद्ध-पवित्र ही समझना चाहिए।

भाण्डस्थितमभोज्येषु जलं दधि घृतं पयः।
अकामतस्तु यो भुङ्क्ते प्रायश्चित्तं कथं भवेत्?॥ 26॥

अभोज्य—पतित एवं भ्रष्ट होने के कारण जिनके साथ खान-पान सर्वथा वर्जित हैं, ऐसे दुष्ट तथा निकृष्ट—व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले पात्रों में रखे जल, दधि, घी और दुग्ध आदि का अनजाने में सेवन कर लेने पर शुद्धि एवं पाप-निवृत्ति का प्रायश्चित्त निम्नोक्त प्रकार है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा उपसर्पति।
ब्रह्मकूर्चोपवासेन योज्या वर्णस्य निष्कृतिः॥ 27॥

पतित व्यक्तियों के पात्रों में रखे घृत-दुग्ध आदि का अनजाने में सेवन करने वाले चारों वर्णों के लोगों का प्रायश्चित्त ब्रह्मकूर्च व्रत करना और एक दिन का उपवास करना है। ब्रह्मकूर्च व्रत में निर्दिष्ट क्वाथ और पञ्चगव्य का सेवन करना होता है।

शूद्राणां नोपवासः स्याच्छूद्रो दानेन शुध्यति।
ब्रह्मकूर्चमहोरात्रं श्वपाकमपि शोधयेत्॥ 28॥

शूद्रों द्वारा जाने-अनजाने अभक्ष्य-भक्षण तथा अकृत्यकरण आदि कुछ भी अपराध हो जाने अथवा किये जाने पर उन्हें आत्मशुद्धि तथा पाप-निवृत्ति के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता। उनकी शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय दान करना है। दान करने में असमर्थ शूद्र को एक दिन और एक रात ब्रह्मकूर्च पीकर बिताना चाहिए। ब्रह्मकूर्च में तो श्वपाक तक को शुद्ध-पवित्र एवं पापमुक्त करने की विलक्षण शक्ति है।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु पवित्रं पापशोधनम्॥ 29॥

गोमूत्र, गोबर, गोरस (दुग्ध), दधि और घृत (गाय के ही दूध से बने) तथा कुशों के जल का मिश्रण पञ्चगव्य कहलाता है। यह भी परम पवित्र एवं पाप को नाश करने की अद्भुत क्षमता लिये हुए है। इसका सेवन भी अत्यन्त लाभदायक होता है।

गोमूत्रं कृष्णवर्णायाः श्वेतायाश्चैव गोमयम्।
पयश्च ताम्रवर्णाया रक्ताया गृह्यते दधि॥ 30॥
कपिलायाः घृतं ग्राह्यं सर्वं कापिलमेव वा।
मूत्रमेकपलं दद्यादङ्गुष्ठार्द्धं तु गोमयम्॥ 31॥

क्षीरं सप्तपलं दद्याद्दधि त्रिपलमुच्यते।
घृतमेकपलं दद्यात्पलमेकं कुशोदकम्॥ 32॥

ब्रह्मकूर्च व्रत में लिये जाने वाले पञ्चगव्य के स्रोत और परिमाण का परिचय देते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—कृष्णवर्णा गाय का गोमूत्र, श्वेतवर्णा गाय का गोबर, ताम्र वर्ण वाली गाय का दुग्ध, लाल रंग वाली गाय का दही तथा कपिला गाय का घी लेकर पञ्चगव्य बनाना चाहिए। पांचों भिन्न-भिन्न वर्ण की गायों के उपलब्ध न होने की स्थिति में पांचों पदार्थ कपिला गाय से ही लेने चाहिए।

मूत्र परिमाण में एक पल (चार तोला अथवा लगभग चालीस ग्राम), गोबर की मात्रा आधे अंगूठे के समकक्ष (लगभग पांच ग्राम), दूध की मात्रा सात पल (अट्ठाईस तोला अथवा लगभग दो सौ अस्सी ग्राम), दही तीन पल (बारह तोले अथवा एक सौ बीस ग्राम) तथा घृत एक पल (चार तोले, अर्थात् चालीस ग्राम) के साथ इच्छानुसार कुशों का जल भी लेना चाहिए।

गायत्र्याऽऽदाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम्।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णस्तथा दधि॥ 33॥
तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम्।
पञ्चगव्यमृचा पूतं स्थापयेदग्निसन्निधौ॥ 34॥

गाय से गोमूत्र को लेते समय गायत्री मन्त्र का, गोबर को ग्रहण करते समय 'गन्धद्वार' मन्त्र का, दुग्ध के ग्रहण के समय 'आप्यायस्व' मन्त्र का, दधि के ग्रहण के लिए—'दधिक्राव्ण' मन्त्र का, घृत का ग्रहण करते समय—**तेजोऽसिशुक्रम्**—मन्त्र का और कुशोदक का ग्रहण करने से पूर्व—**देवस्य त्वा**—मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। उपर्युक्त मन्त्रों से पवित्र किये गये छह पदार्थों को आग के समीप रख देना चाहिए।

आपोहिष्ठेति चालोड्य मानस्तोकेति मन्थयेत्।
सप्तवारास्तु ये दर्भा अच्छिन्नाग्राः शुकत्विषः॥ 35॥

अब सात प्रकार के अपराधों के निवारण के लिए प्रतीक भूत सात बिना नोक कटे, अर्थात् अविच्छिन्न अग्रभाग वाले तथा शुक के वर्ण के समान हरे-भरे सात कुशों से उपर्युक्त सभी पदार्थों—गोमूत्र, गोदुग्ध तथा कुशोदक आदि—को **आपोहिष्ठः** मन्त्र से हिलाना-डुलाना तथा 'मानस्तोके' मन्त्र से उनका सात बार मन्थन करना चाहिए।

एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथाविधिः।
'इरावती' इदंविष्णुर्मानस्तोकेति 'शं' वती॥ 36॥

इन सात हरे कुशों से पञ्चगव्य को उठाकर मन्त्रों 'इरावती' 'इदं विष्णु' 'मानस्तोके' तथा 'शन्नो देवीः' आदि का उच्चारण करते हुए विधिपूर्वक होम करना चाहिए।

एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिबेद्द्विजः।
आलोड्य प्रणवेनैव निर्मन्थ्य प्रणवेन तु॥ 37॥

होम से बचे पञ्चगव्य को प्रणव से मथकर, प्रणव से ही उसे हिला-डुला कर तथा प्रणव का ही उच्चारण करते हुए उपस्थित द्विजों को उसका पान करना चाहिए।

उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेच्च प्रणवेन तु।
यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति देहिनाम्॥ 38॥

इस प्रकार प्रणव का उच्चारण करते हुए पञ्चगव्य को अंगुलि से निकालने और प्रणव का पाठ करते हुए उसे मुख में डालने से व्यक्ति के शरीर की हड्डियों और चमड़े तक में घुसे सभी प्रकार के पापों का नाश हो जाता है।

ब्रह्मकूर्चो दहेत्सर्वं प्रदीप्ताग्निरिवेन्धनम्।
पवित्रं त्रिषु लोकेषु देवताभिरधिष्ठितम्॥ 39॥

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सभी प्रकार की सूखी-गीली लकड़ियों को पल-भर में भस्म कर देती है, उसी प्रकार ब्रह्मकूर्च व्रत तथा उसमें लिया गया पञ्चगव्य सभी पापों को भस्म करने का सामर्थ्य रखता है। वस्तुतः इस व्रत में देवों का अधिष्ठान (वास) होने से यह व्रत तीनों लोकों में परम पवित्र तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

वरुणश्चैव गोमूत्रे गोमये हव्यवाहनः।
दध्नि वायुः समुद्दिष्टः सोमः क्षीरे घृते रविः॥ 40॥

ब्रह्मकूर्च में लिये जाने वाले पञ्चगव्य के अन्तर्गत गोमूत्र में वरुणदेव का, गोबर में अग्निदेव का, दधि में पवनदेव का, दुग्ध में चन्द्रदेव का तथा घृत में

सूर्यदेव का निवास है। अभिप्राय यह है कि पञ्चगव्य के सेवन से पांच देवों का अनुग्रह प्राप्त होता है।

पिबतः पतितं तोयं भोजने मुखनिःसृतम्।
अपेयं तद्विजानीयात् पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ 41॥

खाना खाते समय मुंह से बाहर निकलकर गिर पड़े भोजन को तथा पानी पीते समय गिर पड़े पानी को (उच्छिष्ट और परित्यक्त अन्न तथा जल को) कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। ऐसे दूषित अन्न तथा जल के ग्रहण का प्रायश्चित्त चान्द्रायण व्रत है, जिसके बिना व्यक्ति अशुद्ध और पाप-युक्त रहता है।

कूपे च पतितं दृष्ट्वा श्व-शृगालौ च मर्कटम्।
अस्थि-चर्मादि पतितं पीत्वाऽमेध्या अपो द्विजः॥ 42॥
नारं तु कुणपं काकं विड्वराह-खरोष्ट्रकम्।
गावयं सौप्रतीकं च मायूरं खड्गकं तथा॥ 43॥
वैय्याघ्रमार्क्षं सैंहं वा कूपे यदि निमज्जति।
तडागस्याऽथ दुष्टस्य पीतं स्यादुदकं यदि॥ 44॥

निम्नोक्त कारणों से दूषित कूप अथवा तड़ाग आदि के जल का सेवन वर्जित है।

1. कूप अथवा सरोवर में कुत्ते, गीदड़ तथा वानर आदि की हड्डी का अथवा इनके चमड़े का पड़ा दीखना,

2. मनुष्य, काक, ग्रामशूकर, गधा, ऊंट, शबर (गवय), चित्तकबरा मृग, मयूर, गैंडा, व्याघ्र, रीछ तथा सिंह आदि के शव का मिलना।

उपर्युक्त रूप-- हड्डी, चमड़ा तथा शव आदि—से दूषित एवं अपवित्र जल को पीने वाले दुष्ट व्यक्ति--द्विज तक को निम्नोक्त रूप से प्रायश्चित्त करना होता है।

प्रायश्चित्तं भवेत् पुंसः क्रमेणैतेन सर्वशः।
विप्रः शुध्येत् त्रिरात्रेण क्षत्रियस्तु दिनद्वयात्॥ 45॥
एकाहेन तु वैश्यस्तु शूद्रो नक्तेन शुध्यति।
परपाकनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च॥ 46॥

उपर्युक्त कारणों से कलुषित एवं अपवित्र बने जलस्रोत—कूप, वापी तथा तड़ाग आदि—के जल को पीने वाले चारों वर्णों के लोगों का प्रायश्चित्त इस प्रकार है।

ब्राह्मण को तीन दिन, क्षत्रिय को दो दिन, वैश्य को एक दिन तथा शूद्र को एक रात्रि का उपवास करना चाहिए। इस उपवास से ही इनकी शुद्धि होती है।

टिप्पणी—स्वास्थ्य की दृष्टि से भी दूषित जल का पीना हानिकारक होता है। कोई भी विवेकशील जान-बूझकर ऐसी मूर्खता नहीं करना चाहेगा।

अपचस्य च भुक्त्वाऽन्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्।
अपचस्य च यद्दानं दातुश्चास्य कुतः फलम्?॥ 47॥

तीनों—परपाक-निवृत्त, परपाकरत और अपच—द्वारा दिया अन्न कभी किसी ब्राह्मण को नहीं पचता। अतः द्विज को भूलकर भी इन तीनों से अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए।

दाता प्रतिग्रहीता च तौ द्वौ निरयगामिनौ।
गृहीत्वाऽग्निं समारोप्य पञ्चयज्ञान्न निर्वपेत्॥ 48॥

सत्य तो यह है कि इन तीनों को अन्नदान का कोई फल ही नहीं मिलता। अन्नदान करने पर भी ये तीनों तो नरक में ही जाते है। इनसे दान लेने वाला ब्राह्मण भी नरकगामी होता है। अतः किसी द्विज को इनसे दान नहीं लेना चाहिए। इनसे दान लेने वाले ब्राह्मण को प्रायश्चित्त के रूप में चान्द्रायण व्रत करना चाहिए।

परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकीर्तितः।
पञ्चयज्ञान् स्वयं कृत्वा परान्नेनोपजीवति॥ 49॥
सततं प्रातरुत्थाय परपाकरतस्तु सः।
गृहस्थधर्मा यो विप्रो ददाति परिवर्जितः॥ 50॥

मुनियों ने अग्नि का समारोपण करके पञ्चयज्ञों को न करने वाले को 'परपाक निवृत्त' तथा पञ्चयज्ञों को स्वयं करके—दूसरों को न कराकर—दूसरों के अन्न पर जीने वाले को 'परपाकरत' कहा है। इन दोनों को पतित मानना चाहिए और ब्राह्मण को इनसे दान नहीं स्वीकार करना चाहिए।

ऋषिभिर्धर्मतत्त्वज्ञैरपचः परिकीर्तितः।
युगे युगे तु ये धर्मास्तेषु तेषु च ये द्विजाः॥ 51॥

धर्मशास्त्र के तत्त्वज्ञ ऋषियों की दृष्टि में गृहस्थधर्मी होकर भी दान न करने वाला ब्राह्मण 'अपच' कहलाता है।

महर्षि पराशरजी बोले—विप्रो! अब मैं आप लोगों को विभिन्न युगों के धर्मों और द्विजों का परिचय देता हूं।

तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः।
हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः॥ 52॥
स्नात्वा तिष्ठन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत्।
ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे बध्वापि वाससा॥ 53॥

विप्रो! ब्राह्मणों को युगरूप—युगपुरुष, अर्थात् विशिष्ट विभूति (देवस्वरूप) समझकर कभी उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। ग़लती से उनकी डांट-डपट करने पर भी अथवा उन्हें 'तू' कहकर सम्बोधित करने पर, अर्थात् अपमान करने पर व्यक्ति को शेष दिन स्नान करके आत्मग्लानि एवं पश्चात्ताप करते हुए बैठे रहना चहिए और प्रणाम, मनुहार, प्रशंसा तथा चाटुकारिता द्वारा ब्राह्मण को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए।

विवादेनापि निर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत्।
अवगूर्य त्वहोरात्रं त्रिरात्रं क्षितिपातने॥ 54॥

तिनके से भी ब्राह्मण पर प्रहार करने वाले अथवा उसके गले में वस्त्र डाल कर उसे बांधने वाले तथा विवाद में पराजित करने वाले का प्रायश्चित्त है—ब्राह्मण को अनुनय-विनय द्वारा प्रसन्न करना, उसके चरणों में पड़े रहना तथा अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करना।

अतिकृच्छ्रं च रुधिरे कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते।
नवाहमतिकृच्छ्री स्यात्पाणिपूरान्नभोजनः॥ 55॥

ब्राह्मण पर डण्डा उठाने वाले को एक दिन-रात का उपवास करना चाहिए। ब्राह्मण को धरती पर पटकने का प्रायश्चित्त है—तीन दिन-रात का उपवास। ब्राह्मण पर प्रहार करने से उसके शरीर से रुधिर निकल आने पर प्रहार करने वाले को अतिकृच्छ्र व्रत करना चाहिए। ब्राह्मण की त्वचा में रक्त जम जाने—भीतरी अथवा गुम चोट लगने—पर व्यक्ति को कृच्छ्र व्रत करना चाहिए तथा नौ दिनों तक एक मुट्ठी-भर अन्न खाकर निर्वाह करना चाहिए, अन्यथा व्यक्ति पाप-मुक्त तथा शुद्ध नहीं होता।

त्रिरात्रमुपवासी स्यादतिकृच्छ्रः स उच्यते।
सर्वेषामेव पापानां सङ्करे समुपस्थिते॥ 56॥

तीन दिन-रातों का उपवास—अन्न-जल का सर्वथा त्याग—कृच्छ्र व्रत कहलाता है। इसी प्रकार सात दिनों तक निराहार-निर्जल रहना अति कृच्छ्र व्रत कहलाता है।

दशसाहस्त्रमभ्यस्ता गायत्रीशोधनं परम्॥ 57॥

अनेक प्रकार के पापों का संग्रह हो जाने पर आवश्यकतानुसार कृच्छ्र व्रत अथवा अतिकृच्छ्र व्रत करने तथा इस अवधि में निरन्तर प्रतिदिन दस सहस्र संख्या में गायत्री मन्त्र का जाप करने से पाप से मुक्ति-लाभ तथा शुद्धि हो जाती है।

॥ इति पापानांप्रायश्चित्त विधान नामक एकादश अध्याय॥

बारहवां अध्याय

सकलप्रायश्चित्त निर्णय

दुःस्वप्नं यदि पश्येद्वा वान्ते वा क्षुरकर्म्मणि।
मैथुने प्रेतधूमे च स्नानमेव विधीयते॥ 1॥

निम्नोक्त पांच—1. दुःस्वप्न देखने, 2. वमन होने-करने, 3. क्षौर (मुण्डन) कराने, 4. मैथुन करने तथा 5. श्मशान में प्रेत (मृत-प्राणी, शव) की चिता के धूम्र के लगने—स्थितियों में व्यक्ति की स्नान करने से शुद्धि हो जाती है।

टिप्पणी—स्नान से शरीर में स्फूर्ति का आना तथा मानसिक उद्विग्नता का दूर होना प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है।

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ 2॥

अनजाने में भी मल, मूत्र तथा सुरा का सेवन अथवा इन तीनों दूषित पदार्थों के मिश्रण से अशुचि बने किन्हीं अन्य पदार्थों का सेवन करने वाला द्विज—तीनों वर्णों का व्यक्ति—पतित हो जाता है, उसे आत्मशुद्धि तथा पाप-निवृत्ति के लिए पुनः यज्ञोपवीत संस्कार कराना चाहिए, अन्यथा वह वेदाध्ययन, देवपूजन तथा यज्ञ-यागादि का अधिकारी ही नहीं रहता।

अजिनं मेखला दण्डो भैक्ष्यचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि॥ 3॥

हां, पतित द्विजों का पुनः संस्कार किये जाने पर उन्हें न तो मृगचर्म मेखला और पलाशादि का दण्ड धारण करना पड़ता है और न ही भिक्षा मांगनी और व्रताचरण आदि करने पड़ते हैं।

विण्मूत्रभोजी शुध्यर्थं प्राजापत्यं समाचरेत्।
पञ्चगव्यं च कुर्वीत स्नात्वा पीत्वा शुचिर्भवेत्॥ 4॥

जाने-अनजाने विष्ठा खाने तथा मूत्र पीने वाले व्यक्ति को आत्मशुद्धि के लिए प्राजापत्य व्रत करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति स्नान करने के उपरान्त पञ्चगव्य पीने से भी शुद्ध हो जाता है।

जलाऽग्निपतने चैव प्रव्रज्याऽनाशकेषु च।
वृत्यावसितवर्णानां कथं शुद्धिर्विधीयते?॥ 5॥

मन में आत्महत्या का दृढ़ संकल्प करके अग्निदाह करने, जल में डूबने संन्यासी बनने, पहाड़ से गिरने तथा (आमरण) अनशन व्रत करने पर भी दैवयोग से बच जाने वाले व्यक्ति को पाप-निवृत्ति के लिए निम्नोक्त प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए।

प्राजापत्यद्वयेनैव तीर्थाभिगमनेन च।
वृषैकादशदानेन वर्णाः शुध्यन्ति ते त्रयः॥ 6॥

आत्महत्या की सोचने तथा चेष्टा करने का प्रायश्चित्त तीनों वर्णों के लोगों के लिए समान है। तीनों वर्णों—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—के दुर्बुद्धि पुरुषों को आत्मशुद्धि के लिए किसी तीर्थ में जाकर स्नान करना चाहिए, प्राजापत्य व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा में दो गाएं और एक बैल देना चाहिए।

ब्राह्मणस्य प्रवक्ष्यामि वनं गत्वा चतुष्पथे।
सशिखं वपनं कृत्वा प्राजापत्यद्वयं चरेत्॥ 7॥
गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्धिं पाराशरोऽब्रवीत्।
मुच्यते तेन पापेन ब्राह्मणत्वं न गच्छति॥ 8॥

आत्महत्या का मन में विचार बनाकर तदनुरूप चेष्टा करने पर संयोगवश बच जाने वाले ब्राह्मण का प्रायश्चित्त महर्षि पराशर के अनुसार इस प्रकार है। ऐसे ब्राह्मण को आत्मशुद्धि के लिए वन में जाकर चौराहे के मध्य बैठकर शिखासमेत मुण्डन कराना और दो प्राजापत्य व्रतों का अनुष्ठान करना चाहिए। व्रत के सम्पन्न होने पर उसे दक्षिणा में दो गाएं देनी चाहिए। ऐसा करने पर उसका नष्ट ब्राह्मणत्व उसे पुनः प्राप्त हो जाता है। प्रायश्चित्त न करने की स्थिति में वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी ही नहीं रहता।

स्नानानि पञ्च पुण्यानि कीर्तितानि मनीषिभिः।
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च॥ 9॥

शास्त्रज्ञ विद्वानों के अनुसार निम्नोक्त पांच प्रकार के स्नान परम पवित्र हैं—आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य तथा दिव्य।

आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्य तु वारुणम्।
'आपो हिष्ठे'ति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥ 10॥

शरीर के सभी अंगों पर भस्म का लगाना **आग्नेय** स्नान, जल में डुबकी लगाना अथवा लोटे से शरीर के सभी अंगों पर जल डालना **वारुण** स्नान, **आपो हिष्ठा मयोभुवः** मन्त्र से सारे शरीर पर जल का मार्जन करना **ब्राह्म** स्नान तथा गाय के चरणों की रज को मस्तक पर लगाना व शरीर के सभी अंगों पर छिड़कना **वायव्य** स्नान कहलाता है।

यत्तु सातपवर्षेण तत्स्नानं दिव्यमुच्यते।
तत्र स्नात्वा तु गङ्गायां स्नातो भवति मानवः॥ 11॥

धूप निकली होने के साथ मेघों द्वारा बरसाये जा रहे जल में स्नान करना—पूरी तरह भीगना—दिव्य स्नान कहलाता है। वर्षा-जल में नहाना गंगा में स्नान करने-जैसा पुण्यदायक है।

स्नातुं यान्तं द्विजं सर्वे देवाः पितृगणैः सह।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्त्ताः सलिलार्थिनः॥ 12॥

स्नान के लिए ब्राह्मण के किसी जलस्रोत—नदी, कूप, वापी तथा सरोवर आदि—की ओर जाने पर प्यास से व्याकुल सभी देव और पितर जलपान करने के लिए उत्सुक होकर वायु-रूप में द्विज के पीछे-पीछे चल देते हैं।

निराशास्ते निवर्त्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते।
तस्मान्न पीडयेद्वस्त्रमकृत्वा पितृतर्पणम्॥ 13॥

ब्राह्मणों के स्नान से शीघ्र ही निवृत्त होने और धोती-गमछा आदि निचोड़ने पर उनके पीछे अपनी प्यास बुझाने के लिए आये तृषातुर देवताओं, पितरों को निराश होकर वापस लौट जाना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को स्नान करने के बाद जब तक पितरों का तर्पण न कर ले, तब तक स्नान से गीले वस्त्र को निचोड़ना नहीं चाहिए।

रोमकूपेष्ववस्थाप्य यस्तिलैस्तर्पयेत्पितॄन्।
तर्पितास्तेन ते सर्वे रुधिरेण मलेन च॥ 14॥

अपने शरीर के रोमछिद्रों पर तिल रखकर पितरों के तर्पण करने का अर्थ है—पितरों को मल और रुधिर आदि का पान कराना। अभिप्राय यह है कि रोमछिद्रों पर तिलों को रखने से रक्तप्रवाह रुक जाता है और इससे पितरों को दुःख होता है। यही कारण है कि यह अवाञ्छनीय स्थिति है।

अवधूनोति यः केशान् स्नात्वा प्रस्त्रवतो द्विजः।
आचामेद्वा जलस्थोऽपि स बाह्यः पितृ-दैवतैः॥ 15॥

स्नान के उपरान्त अपने केशों को फटकारने वाला, गीले वस्त्रों को निचोड़ने वाला अथवा सूखे वस्त्रों को पहनकर जल में खड़ा होकर आचमन करने वाला ब्राह्मण देवपूजन तथा पितृतर्पण-जैसे अनुष्ठान कर ही नहीं सकता। अभिप्राय यह है कि देव-पितृकार्यों को सफलतापूर्वक करने के इच्छुक द्विज को न तो स्नान के उपरान्त केश फटकारने चाहिए, न ही गीले कपड़ों को निचोड़कर अथवा सूखे वस्त्रों को पहनकर जल में खड़े होकर आचमन करना चाहिए, अर्थात् या तो आचमन करते समय गीले वस्त्र पहने होने चाहिए या फिर यदि सूखे वस्त्र पहन ही लिये हैं, तो पानी में उतरना ही नहीं चाहिए, अपितु किनारे पर बैठकर ही आचमन कर लेना चाहिए।

टिप्पणी—स्नात्वा प्रस्त्रवतो द्विजः के स्थान पर **स्नात्वा यस्तूत्सृजेत् मलम्** पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है स्नान के उपरान्त जल-स्रोत—नदी, कूप, वापी तथा सरोवर आदि—में मल-मूत्र का विर्सजन करने वाला ब्राह्मण देवपूजन और पितृ-तपर्ण का अधिकारी नहीं रहता।

शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकक्षशिखोऽपि वा।
विना यज्ञोपवीतेन आचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत्॥ 16॥

सिर पर अथवा गले में वस्त्र लपेटकर, कच्छा-धोती आदि को खोल-निकाल कर, अर्थात् नग्नावस्था में, शिखा को खुला छोड़कर अथवा खोलकर तथा यज्ञोपवीत धारण किये बिना आचमन लेने पर भी द्विज अशुद्ध ही बना रहता है। अभिप्राय यह है कि आत्मशुद्धि के लिए आचमन लेते समय द्विज को न तो सिर पर और न ही गले में कोई वस्त्र लपेटना चाहिए, उसे नग्नावस्था में भी नहीं होना

चाहिए, उसे अपनी शिखा में गांठ लगाकर रखनी चाहिए तथा यज्ञोपवीत भी धारण किये रहना चाहिए।

जले स्थलस्थो नाचामेज्जलस्थश्च बहिःस्थले।
उभे स्पृष्ट्वा समाचामेदुभयत्र शुचिर्भवेत्॥ 17॥

द्विज के लिए दोनों—जल से बाहर खड़े होकर जल का आचमन करना और जल में खड़े होने पर जल का आचमन न करना—कार्य अनुचित हैं। जल में रहने पर, अर्थात् स्नान आदि करते समय आचमन न कर पाने वाले और वस्त्र आदि पहनकर स्थल में आ जाने वाले द्विज को आचमन करने के लिए एक पांव स्थल में रखते हुए दूसरा पैर जल में रखना चाहिए। ऐसा करने से आचमन का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, अर्थात् व्यक्ति शुद्ध हो जाता है।

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च॥ 18॥

निम्नोक्त स्थितियों में द्विज को दो बार आचमन करना चाहिए—1. स्नान के उपरान्त, 2. जल-पान के उपरान्त, 3. भोजन के पश्चात्, 4. दाढ़ी मूड़ने के उपरान्त, 5. सोकर जागने पर, 6. गली में चलकर आने पर तथा 6. वस्त्र पहन लेने पर।

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथाऽनृते।
पतितानां च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्॥ 19॥

निम्नोक्त स्थितियों में इसी प्रकार द्विज को अपना दाहिना कान छूना चाहिए; क्योंकि इसी से पश्चात्ताप सूचित होने से व्यक्ति शुद्ध और पाप-मुक्त होता है—

1. छींक आने पर, 2. थूकने पर, 3. दांतों में रह गयी जूठन को बाहर निकाल फेंकने पर, 4. मिथ्या-भाषण करने पर तथा 5. पतित व्यक्तियों के साथ बातचीत करने पर।

भास्करस्य करैः पूतं दिवा स्नानं प्रशस्यते।
अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात्।॥ 20॥

दिन में सूर्योदय के पश्चात् स्नान करना उत्तम है; क्योंकि इस समय जल सूर्य की किरणों के पड़ने से शुद्ध-पवित्र बना होता है। चन्द्रग्रहण आदि को छोड़कर रात को नहाना अच्छा नहीं होता।

टिप्पणी—शास्त्रों में प्रायः सूर्योदय से पूर्व उषाकाल में तारों के दिखाई देने

पर किये जाने वाले स्नान को उत्तम, तारों के अस्त, परन्तु सूर्योदय से पूर्व किये जाने वाले स्नान को मध्यम और सूर्योदय के पश्चात् स्नान को अधम माना है। यहां प्रचलित मान्यता के विपरीत सूर्योदय के पश्चात् के स्नान को प्रशस्त कहा गया है।

मरुतो वसवो रुद्रा आदित्याश्चाथ देवताः।
सर्वे सोमे प्रलीयन्ते तस्माद्दानं तु सङ्ग्रहे॥ 21॥

ग्रहणकाल में वायु, वसु, रुद्र, आदित्य तथा अन्यान्य सभी देवता चन्द्रमा में लीन हो जाते हैं। अतः ग्रहणकाल में दान करने का विशेष महत्त्व एवं लाभ है। आत्मकल्याण के अभिलाषी व्यक्ति को ग्रहणकाल में रात्रि में दान अवश्य करना चाहिए।

खलयज्ञे विवाहे च संक्रान्तौ ग्रहणे तथा।
शर्वर्यां दानमस्त्येव नान्यत्रैवं विधीयते॥ 22॥

निम्नोक्त अवसरों को छोड़कर अन्य किसी भी अवसर पर रात्रि में दान नहीं करना चाहिए—1. खल-यज्ञ (खलिहान), 2. विवाह, 3. संक्रान्ति—नव मास का प्रथम दिन तथा 4. ग्रहण (चन्द्रग्रहण)।

पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा चात्ययकर्मणि।
राहोश्च दर्शने दानं प्रशस्तं नान्यदा निशि॥ 23॥

उपर्युक्त अवसरों के अतिरिक्त अन्य निम्नोक्त अवसरों पर भी रात्रि में किया गया दान प्रशस्त होता है—1. पुत्र-जन्म, 2. यज्ञ, 3. परिवार में किसी की मृत्यु तथा 4. राहु द्वारा चन्द्र के ग्रहण का दर्शन। इन अवसरों—चार और चार को मिलाकर आठ (ग्रहण की आवृत्ति हुई है, यह एक समान दोनों पद्यों में आया है। अतः चार और तीन ही समझना चाहिए और इन्हें मिलाकर अवसरों की संख्या सात ही माननी चाहिए।)—को छोड़ शेष किसी भी अवसर पर रात में किये गये दान का अपेक्षित फल नहीं मिलता।

महानिशा तु विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम्।
प्रदोषः पश्चिमौ यामौ दिनवत्स्नानमाचरेत्॥ 24॥

चार प्रहरों (एक प्रहर की अवधि तीन घण्टा होती है) का एक दिन और चार प्रहरों की ही एक रात्रि होती है। इस प्रकार एक दिन-रात में आठ प्रहर होते

हैं। रात्रि के चार प्रहरों में मध्य के दो प्रहरों—द्वितीय और तृतीय--का रात्रिकाल 'महानिशा' कहलाता है। उदाहरणार्थ, यदि सायंकाल के सात बजे से दिन के सात बजे तक रात्रिकाल माना जाये, तो रात्रि के दस बजे से चार बजे तक के समय को महानिशाकाल कहा जायेगा। सूर्योदय के समय किये जाने वाले स्नान के समान दोनों सन्ध्याओं—दिन और रात का मिलन, अर्थात् दिन की समाप्ति और रात्रि का प्रारम्भ तथा रात और दिन का मिलन, अर्थात् रात्रि की समाप्ति और दिन का प्रारम्भ—में भी स्नान करना चाहिए।

चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चाण्डालः सोमविक्रयी।
एतांस्तु ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत्॥ 25॥

निम्नोक्त अपवित्रों-अस्पृश्यों को छूने पर अथवा इनके द्वारा छुए जाने पर ब्राह्मण को आत्मशुद्धि के लिए वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिए।

1. श्मशान में स्थित वृक्ष, 2. चिता, 3. मटका आदि फोड़ने के लिए श्मशान में बना यूप—पाषाण शिला अथवा मिट्टी का स्तम्भ, 4. चाण्डाल तथा 5. सोमलता अथवा सोम द्रव का विक्रेता।

अस्थिसञ्चयनात्पूर्वं रुदित्वा स्नानमाचरेत्।
अन्तर्दशाहे विप्रस्य ह्यूर्ध्वमाचमनं स्मृतम्॥ 26॥

अस्थि-सञ्चय से पूर्व, अर्थात् मृत्यु के चौथे दिन से पूर्व प्रथम तीन दिनों तक किसी प्रियजन की मृत्यु पर रुदन करने पर ब्राह्मण को अपनी शुद्धि के लिए जल में स्नान करना चाहिए। इसके उपरान्त अगले दस दिनों के भीतर रुदन करने पर केवल आचमन करने से ही ब्राह्मण शुद्ध हो जाता है।

सर्वं गङ्गासमं तोयं राहुग्रस्ते दिवाकरे।
सोमग्रस्ते तथैवोक्तं स्नान-दानादिकर्मसु॥ 27॥

सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण के अवसरों पर स्नान, दान आदि कर्मों के लिए उपलब्ध जल को गंगाजल के ही समान शुद्ध-पवित्र मानते हुए उसका प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् उपलब्ध जल की ग्राह्यता-अग्राह्यता के चक्कर में पड़कर स्नान तथा दान (संकल्प) आदि को टालना नहीं चाहिए।

कुशैः पूतं भवेत् स्नानं कुशेनोपस्पृशेद्द्विजः।
कुशेन चोद्धृतं तोयं सोमपानसमं भवेत्॥ 28॥

कुश के साथ ग्रहण किये जाने वाला जल-पान किये जाने वाले सोमरस के समान शद्ध पवित्र होता है। अत: ब्राह्मण को कुश के साथ जलस्नान तथा आचमन ग्रहण करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि कुशों से मार्जन करना चाहिए और कुशों से अंजलि में जल लेकर आचमन करना चाहिए।

अग्निकार्यात् परिभ्रष्टाः सन्ध्योपासनवर्जिताः।
वेदं चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः॥ 29॥

निम्नोक्त रूप से ब्राह्मणों के लिए निर्दिष्ट एवं अपेक्षित कर्तव्य-कर्म न करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मणत्व से पतित होकर शूद्र के समकक्ष हो जाता है 1. नित्य अग्नि-होत्र, 2. प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दनादि तथा 3. वेदाध्ययन। ब्राह्मण के लिए ये तीनों कर्म उसके अनिवार्य धर्म हैं। उसे प्रतिदिन यज्ञ-होम, सन्ध्या-वन्दन तथा स्वाध्याय आदि करना ही चाहिए। ऐसा न करने वाला ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी ही नहीं रहता।

तस्माद् वृषलभीतेन ब्राह्मणेन विशेषतः।
अध्येतव्योऽप्येकदेशो यदि सर्वं न शक्यते॥ 30॥

वृषलत्व (शूद्रत्व) से बचने के लिए तथा अपने ब्राह्मणत्व को सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मण को वेदों का अध्ययन तो अवश्य ही करना चाहिए। चारों वेदों के अध्ययन में असमर्थ ब्राह्मण को किसी एक वेद का, एक वेद के भी सम्पूर्ण (समग्र रूप में) अध्ययन में असमर्थ होने पर वेद के एक भाग का अध्ययन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए वेदों का ज्ञान रखना, उनका नियमित अध्ययन-अध्यापन करना अनिवार्य ही है।

शूद्रान्नरसपुष्टस्याऽप्यधीयानस्य नित्यशः।
जपतो जुह्वतो वाऽपि गतिरुर्ध्वा न विद्यते॥ 31॥

वेदों का नियमित अध्ययन तथा जप, होम करते रहने पर भी, अर्थात् अपने लिए निर्दिष्ट कर्तव्य-कर्मों का सम्यक् निर्वाह करने पर भी शूद्र के अन्न से अपना उदर-भरण करने वाले बाह्मण की कभी सद्गति हो ही नहीं सकती। ऐसा ब्राह्मण भी पतित ही कहलाता है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को उत्तम कर्मों के करने के साथ अपनी आजीविका के भी सात्त्विक होने पर ध्यान देना आवश्यक है। उसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए शूद्र पर नहीं, अपितु द्विजों पर आश्रित होना चाहिए।

शूद्रान्नं शूद्रसम्पर्कः शूद्रेण तु सहासनम्।
शूद्राज्ज्ञानागमश्चैव ज्वलन्तमपि पातयेत्॥ 32॥

शूद्र के अन्न के सेवन से, शूद्र का संसर्ग (मैत्री) करने से, शूद्र के साथ उठने-बैठने (मेल-जोल बढ़ाने) से तथा शूद्र का ज्ञान (उसके द्वारा वृत्ति के लिए अपनाये जाने वाले साधनों—शिल्पादि की ज़ानकारी प्राप्त करने एवं शूद्र-जैसा आचरण करने से ब्राह्मण अपनी विद्या, तपस्या तथा आचारनिष्ठा के कारण अग्नि के समान तेजस्वी होने पर भी पतित हो जाता है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को शूद्र के साथ निकटता बनाने से बचना चाहिए।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में महाभारत में पितामह भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिया गया उपदेश-निर्देश ध्यान देने योग्य है—

हीयते हि मतिस्ता हीनैः सह समागमात्
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥

मनुष्य जैसा संग करता है, उस पर वैसा ही रंग चढ़ता है। शूद्रों के संग से व्यक्ति की मानसिकता, चिन्तनशैली तथा जीवन-पद्धति का शूद्र हो जाना स्वाभाविक ही है। इसके विपरीत विशिष्ट पुरुषों के संग से व्यक्ति के जीवन में उच्चता और उदात्तता का आना निश्चित है।

इस सन्दर्भ में देखा जाये, तो महर्षि पराशर द्वारा ब्राह्मण को शूद्र के संग से बचने के निर्देश पर बल देना युक्तिसंगत ही लगता है। यहां केवल विचारणीय यह रह जाता है कि शूद्र का अर्थ मूर्ख व्यक्ति है अथवा वर्ण-विशेष से सम्बद्ध व्यक्ति। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रायः स्मृतिकारों ने वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कर्म के स्थान पर जन्म को ही मान्यता दी है, जबकि यह सर्वजनविदित सत्य है कि कीचड़ में ही कमल उत्पन्न होता है। शूद्र भी विद्वान् और सदाचारी हो सकता है—इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता। दासीपुत्र विदुर, रोमहर्षण तथा वैशम्पायन आदि सूत इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

यः शूद्र्या पाचयेन्नित्यं शूद्री च गृहमेधिनी।
वर्जितः पितृ-देवेभ्यो रौरवं याति स द्विजः॥ 33॥

श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकार्यों में तथा यज्ञ-यागादि-जैसे देवकार्यों में वर्जित (अनधिकारिणी) शूद्रा को गृहिणी-रूप में अपनाने वाला तथा शूद्रा को पाचिका

नियुक्त करनेवाला, अर्थात् उसके हाथ के बने भोजन को खाने वाला, ब्राह्मण रौरव नरक में जाता है।

मृत-सूतकपुष्टाङ्गो द्विजः शूद्रान्नभोजनः।
अहं तन्न विजानामि कां कां योनिं गमिष्यति॥ 34॥

सूतक वाले, मृतक वाले (अशौच) परिवारों के घर का तथा शूद्र के घर का अन्न खाने वाले ब्राह्मण किन-किन नीच योनियों में जन्मते-मरते रहते हैं, इसका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता।

गृध्रो द्वादश जन्मानि दश जन्मानि शूकरः।
श्वयोनौ सप्त जन्मानि हीत्येवं मनुरब्रवीत्॥ 35॥

इस सम्बन्ध में महाराज मनु का कथन है—ऐसे निकृष्ट ब्राह्मण बारह बार गृध्र की योनि में, दस बार शूकर की योनि में और सात बार कुत्ते की योनि में उत्पन्न होते हैं।

दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद्धविः।
ब्राह्मणस्तु भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत्॥ 36॥

दक्षिणा के लोभ से आकृष्ट होकर शूद्र की हवि-होम आदि सम्पन्न कराने वाला ब्राह्मण शूद्र बन जाता है और ब्राह्मण के तेज के अपने में समाविष्ट हो जाने के कारण शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।

मौनव्रतं समाश्रित्य ह्यासीनो न वदेद्द्विजः।
भुञ्जानो हि वदेद्यस्तु तदन्नं परिवर्जयेत्॥ 37॥

मौन रहकर भोजन करने का संकल्प करने पर भोजन के मध्य ही बोल पड़ने वाले, अर्थात् संकल्प का उल्लंघन करने वाले ब्राह्मण को अवशिष्ट भोजन का तत्काल परित्याग कर देना चाहिए।

अर्द्धे भुक्ते तु यो विप्रस्तस्मिन्पात्रे जलं पिबेत्।
हतं दैवं च पित्र्यं च ह्यात्मानं चैव घातयेत्॥ 38॥

आधा अथवा एक तिहाई भोजन करने के उपरान्त उसी पात्र—थाली अथवा कटोरे—में जल पीने वाला ब्राह्मण देवपूजन तथा पितृतर्पण के ही अयोग्य नहीं हो जाता, अपितु अपनी आत्मा को पतन के गर्त में गिराता है।

भुञ्जानेषु तु विप्रेषु योऽग्रे पात्रं विमुञ्चति।
स मूढः स च पापिष्ठो ब्रह्मघ्नः स खलूच्यते॥ 39॥

ब्राह्मणों के भोजन करते समय शीघ्रता से भोजन समाप्त कर उठ खड़ा होने वाला व्यक्ति मूर्ख, पापी तथा ब्रह्महत्यारा कहलाता है। पंक्ति में बैठे व्यक्ति को सभी के खा चुकने पर ही उठना चाहिए। एक के उठने पर दूसरे भी अपने को भोजनभट्ट समझे जाने के आरोप से बचने के लिए बिना तृप्त हुए भी उठ जाते हैं। इससे शीघ्रता करने वाला व्यक्ति दूसरों को भूखा रखने के पाप का भागी बनता है।

भोजनेषु च तिष्ठत्सु स्वस्ति कुर्वन्ति ये द्विजाः।
न देवास्तृप्तिमायान्ति निराशाः पितरस्तथा॥ 40॥

भोजन के लिए पात्रों के रखे जाने से पूर्व ही विप्रों द्वारा 'स्वस्ति' बोल देने से, अर्थात् भोजन किये बिना उठ जाने से देवता तशा पितर निराश हो जाते हैं; क्योंकि इससे निराश यजमान आगे के लिए ब्राह्मण-भोज के आयोजन का उपक्रम ही नहीं करता। अतः ब्राह्मणों को एक बार निमन्त्रण स्वीकार करने के पश्चात् यजमान को खिन्न-व्याकुल नहीं करना चाहिए।

अस्नात्वा नैव भुञ्जीत ह्यजप्त्वाऽग्निमहूय च।
पर्णपृष्ठे न भुञ्जीत रात्रौ दीपं विना तथा॥ 41॥

ब्राह्मणों को स्नान, जप तथा अग्निहोत्र किये बिना रात्रि के समय प्रकाश के अभाव में तथा पत्ते की पीठ पर रखकर कभी भोजन नहीं खाना चाहिए।

गृहस्थस्तु दयायुक्तो धर्ममेवानुचिन्तयेत्।
पोष्यवर्गार्थसिद्ध्यर्थं न्यायवर्ती सुबुद्धिमान्॥ 42॥

दया का भाव रखते हुए अपने निर्धारित धर्म का पालन करने वाला, अपने आश्रितों—स्त्री, पुत्र, माता-पिता और भृत्य आदि—का पालन-पोषण करने वाला तथा न्यायपूर्वक (ईमानदारी और सचाई से) अपनी आजीविका अर्जित करने वाला गृहस्थ बुद्धिमान् कहलाता है।

न्यायोपार्जितवित्तेन कर्तव्यं ह्यात्मरक्षणम्।
अन्यायेन तु यो जीवेत्सर्वकर्मबहिष्कृतः॥ 43॥

न्याय द्वारा उपार्जित धन से जीवन निर्वाह करना धर्म है। इसके विपरीत

अनुचित साधनों से धन कमाने वाले को समाज से बहिष्कृत तथा सभी धर्मकार्यों के अयोग्य घोषित करना चाहिए।

अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः।
दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत्तु नित्यशः॥ 44॥

निम्नोक्त पांच दिव्य विभूतियां अपने दर्शन से ही द्रष्टा को पवित्र बनाने वाली हैं। अतः व्यक्ति को इनके दर्शन को परम सौभाग्य मानना चाहिए और नित्य दर्शन पाने का उद्यम करना चाहिए—1. अग्निहोत्री अथवा आत्मकल्याण में निरत आचारवान् ब्राह्मण, 2. कपिला गाय, 3. राजसूय आदि यज्ञों को सम्पन्न कराने वाला राजा, 4. उच्चचरित्र संन्यासी तथा 5. समुद्र।

अरणिं कृष्णमार्जारं चन्दनं सुमणिं घृतम्।
तिलान् कृष्णाजिनं छागं गृहे चैतानि रक्षयेत्॥ 45॥

प्रत्येक ब्राह्मण को निम्नोक्त वस्तुएं सदैव अपने घर में संभालकर रखनी चाहिए—

1. अरणि—अग्नि प्रकट करने के लिए मथी जाने वाली सूखी लकड़ियां (आजकल माचिस अथवा लाइटर अथवा संकटकाल—बिजली फ़ेल हो जाने पर—में प्रकाश की व्यवस्था के साधन), 2. काली बिल्ली, 3. चंन्दन, 4. उत्तम मणि, 5. घी, 6. तिल, 7. कृष्णमृग का चर्म (आसन के लिए प्रयोग में आने वाला) तथा 8. बकरा—यज्ञ में बलि के लिए अपेक्षित।

टिप्पणी—काली बिल्ली की उपयोगिता एवं शास्त्रीयता विचारणीय है।

गवां शतं सैकवृषं यत्र तिष्ठत्ययन्त्रितम्।
तत्क्षेत्रं दशगुणितं 'गोचर्म' परिकीर्तितम्॥ 46॥

बिना बंधे, स्वतन्त्र भाव से खड़े सौ गायों तथा एक बैल द्वारा घिरने वाले भू-भाग से दस गुना अधिक धरती स्थल का नाम ही गोचर्म है। दूसरे शब्दों में गोचर्म इतना बड़ा भू-भाग है, जिसमें कि एक साथ हज़ार गायों तथा दस बैल स्वतन्त्रता से खड़े रह सकते हैं अथवा विचरण कर सकते हैं।

ब्रह्महत्यादिभिर्मर्त्यो मनोवाक्कायकर्मजैः।
एतद्गोचर्मदानेन मुच्यते सर्वकिल्विषैः॥ 47॥

गोचर्म की परिधि के बहुत बड़े भू-भाग का ब्राह्मणों को दान करने से व्यक्ति ब्रह्महत्या आदि सभी मानसिक, वाचिक तथा कायिक पापों से मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है।

कुटुम्बिने दरिद्राय श्रोत्रियाय विशेषतः।
यद्दानं दीयते तस्मै तद्दानं शुभकारकम्॥ 48॥

दरिद्र तथा बड़े परिवार वाले, परन्तु अनिवार्यतः वेदपाठी ब्राह्मण को दिया गया दान विशेष शुभ फल देने वाला होता है।

टिप्पणी—दरिद्र और कुटुम्ब वाले ब्राह्मण को दान देना उत्तम है; क्योंकि वह अभावग्रस्त है और दान से उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है। महाभारतकार ने भी धनियों की अपेक्षा अभवा-पीड़ितों को दान देने का समर्थन किया है।

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।

परन्तु दरिद्र ब्राह्मण का वेदपाठी होना आवश्यक है। यदि दरिद्र ब्राह्मण आचारवान्, विद्यावान् तथा कर्मठगुरु नहीं है, तो केवल उसकी दरिद्रता अथवा परिवार बहुलता उसे दान का अधिकारी नहीं बना देती। ऐसा ब्राह्मण दया का पात्र तो बन सकता है, परन्तु सम्मान एवं श्रद्धा का पात्र कदापि नहीं बन सकता। दया के रूप में दिये जाने वाले दान और प्रायश्चित्त के अन्तर्गत दिये जाने वाले दान में अन्तर समझना चाहिए।

वापी - कूप - तडागाद्यैर्वाजपेयशतैर्मखैः।
गवां कोटिप्रदानेन भूमिहर्ता न शुध्यति॥ 49॥

दूसरे की भूमि का हरण करने वाले व्यक्ति सैकड़ों शुभकर्मों—वापी, कूप और तड़ाग-जैसे लोकोपयोगी जल संसाधनों का निर्माण करना, वाजपेय आदि सैकड़ों यज्ञों को सम्पन्न करना तथा कोटि-कोटि गायों का दान करना आदि—को करने पर भी कभी शुद्ध नहीं हो पाते। अभिप्राय यह है कि किसी से उसकी धरती—आजीविका का साधन—को छीनना एक ऐसा अपराध है, जिसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं।

अष्टादशदिनादर्वाक् स्नानमेव रजस्वला।
अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं स्यादुशना मुनिरब्रवीत्॥ 50॥

उशना मुनि की मान्यता के अनुसार अठारह दिनों के भीतर रजस्वला होने

वाली स्त्री स्नान करने से उसी समय शुद्ध हो जाती है। अठारह दिनों से अधिक दिनों में ऋतुमती होने वाली स्त्री तीन दिनों तक अशुचि रहती है। चौथे दिन स्नान के उपरान्त ही शुद्ध होती है।

युगं युगद्वयं चैव त्रियुगं च चतुर्युगम्।
चाण्डाल-सूतिकोदक्या-पतितानामधः क्रमात्॥ 51॥

पतित पुरुष से सदैव चार हाथ की, रजस्वला स्त्री से आठ हाथ की, प्रसूता स्त्री से बारह हाथ की तथा चाण्डाल से सोलह हाथ की दूरी बनाये रखनी चाहिए।

ततः सन्निधिमात्रेण सचैलं स्नानमाचरेत्।
स्नात्वाऽवलोकयेत्सूर्यमज्ञानात्स्पृशते यदि॥ 52॥

पतित व चाण्डाल आदि द्वारा निर्दिष्ट दूरी का अतिक्रमण कर अधिक समीप आ जाने पर, अर्थात् छाया पड़ जाने पर द्विज को शुद्धि के लिए वस्त्रों-सहित स्नान करना चाहिए। अनजाने में इन चारों—पतित, चाण्डाल, रजस्वला स्त्री तथा प्रसूता स्त्री—द्वारा छुए जाने पर द्विज को वस्त्रों सहित स्नान करके सूर्य का दर्शन करना चाहिए। जान-बूझकर इन चारों में से किसी का भी स्पर्श करने वाले द्विज को वस्त्र सहित स्नान और सूर्य-दर्शन के अतिरिक्त आठ हज़ार संख्या में गायत्री मन्त्र का जाप करना चाहिए।

विद्यमानेषु हस्तेषु ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
तोयं पिबति वक्त्रेण श्वयोनौ जायते ध्रुवम्॥ 53॥

हाथों के स्वस्थ-सबल होने पर भी नदी, तड़ाग आदि जलस्रोत में मुंह लगा कर जल पीने वाला मूर्ख व्यक्ति मरणोपरान्त निश्चित रूप से कुत्ते की योनि में जन्म ग्रहण करता है।

यस्तु क्रुद्धः पुमान् ब्रूयाज्जायायास्तु ह्यगम्यताम्।
पुनरिच्छति चेदेनां विप्रमध्ये तु श्रावयेत्॥ 54॥

क्रोध, वैराग्य, मोह अथवा मूढ़तावश अपनी पत्नी को मां-बहिन के रूप में एक बार अगम्या घोषित करके पुनः उसी को भोगने के इच्छुक ब्राह्मणों को विद्वान् ब्राह्मणों की परिषद्-पञ्चायत में जाकर निम्नोक्त रूप में आत्मस्वीकृति के साथ अपनी आतुरता-मूर्खता का विज्ञापन करना चाहिए।

श्रान्तः क्रुद्धस्मोऽन्धो वा क्षुत्पिपासा-भयार्दितः।
दानं पुण्यमकृत्वा तु प्रायश्चित्तं दिनत्रयत्॥ 55॥

श्रान्त—भोग में थकावट अनुभव करने—होने के कारण, क्रोधावेश में होने के कारण अथवा अज्ञानजनित मूर्खता के कारण अथवा क्षुधा-तृषा से व्याकुल होने पर किंकर्तव्यविमूढ़ होने के कारण अथवा भोगोपरान्त होने वाली दुर्बलता के कारण अथवा मन में उत्पन्न क्षणिक वैराग्य के कारण अथवा तीर्थयात्रा, दान-पुण्य आदि करने की इच्छा के कारण मैं अपनी पत्नी को अग्राह्या कहने की ग़लती कर बैठा हूं। इस आत्मस्वीकृति के उपरान्त दोषी ब्राह्मण को तीन दिनों का उपवास करना चाहिए। यहां यह उल्लेखनीय है कि दोषी व्यक्ति के मन में भले ही वैराग्य-भाव उत्पन्न न हुआ हो, उसने दान-पुण्य आदि की दिशा में कुछ भी न किया हो, पुनरपि उसे अपने में उत्पन्न भावों से परिषद् को सूचित अवश्य करना चाहिए।

उपस्पृशेत्त्रिषवणं महानद्युपसङ्गमे।
चीर्णान्ते चैव गां दद्याद् ब्राह्मणान्भोजयेद्दश॥ 56॥

उपर्युक्त रूप—पत्नी को अगम्या बताकर पुनः उसका गमन करने को उत्सुक—से दोषी व्यक्ति को परिषद् के सामने अपने दोष का आख्यान करने तथा तीन दिनों का उपवास करने के अतिरिक्त समुद्रगामिनी नदी के संगम पर जाकर तीन समय स्नान तथा सन्ध्यावन्दन आदि के साथ-साथ गोदान करना और दस ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।

दुराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च।
अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्याद्दिनमेकमभोजनम्॥ 57॥

दुराचारी एवं निषिद्ध आचरण करने वाले द्विज के अन्न का सेवन करने वाले व्यक्ति को शुद्धि के लिए एक दिन का उपवास करना चाहिए।

सदाचारस्य विप्रस्य तथा वेदान्तवेदिनः।
भुक्त्वान्नं मुच्यते पापादहोरात्रान्तरान्तरः॥ 58॥

उपवास करने में असमर्थ, परन्तु आत्मशुद्धि के लिए इच्छुक व्यक्ति को किसी सदाचारी तथा वेद-वेदांग निपुण अथवा वेदान्तवादी—मात्र ब्रह्म को सत्य और संसार को मिथ्या, विवर्त-रूप मानने वाले—ब्राह्मण के घर का अन्न कुछ

दिनों तक खाना चाहिए। इस उपाय से व्यक्ति पापमय अन्न को खाने के दोष से मुक्त हो जाता है।

ऊर्ध्वोच्छिष्टमधोच्छिष्टमन्तरिक्षमृतौ तथा।
कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वीत ह्यशौचमरणे तथा॥ 59॥

ऊर्ध्वोच्छिष्ट—उलटे मुख होकर वमन करते, अधोच्छिष्ट—मल-मूत्र का विसर्जन करते, खटिया, तख़्त अथवा पलंग पर प्राण त्यागने वाले के निकट सम्बन्धियों—पत्नी, पुत्र तथा भाई आदि—को उसके निमित्त तीन कृच्छ्र व्रत करने अथवा व्रत के बदले दान में ब्राह्मण को तीन गाएं देने से मृत प्राणी शुद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार किसी भी अन्य प्रकार के अशौच—भोजन आदि खाकर अथवा मल-मूत्र का विसर्जन करके हाथ-मुंह न धो पाने वाले— में प्राण त्यागने वाले के सगे-सम्बन्धियों को उसे पाप-मुक्त करने के लिए यही उपाय तीन कृच्छ्र व्रतों का अनुष्ठान अथवा ब्राह्मणों को तीन गाएं दान करने से मरने वाला प्राणी पाप-मुक्त हो जाता है।

कृच्छ्रं देव्ययुतं चैव प्राणायामशतद्वयम्।
पुण्यतीर्थेऽनार्द्रशिरः स्नानं द्वादशसङ्ख्यया॥ 60॥

गायत्री मन्त्र का एक लाख की संख्या में जाप करना, दो सौ बार प्राणायाम करना, किसी पुण्य तीर्थ में बारह बार इस प्रकार स्नान करना—सिर के बालों के सूखने पर डुंबकी लगाना—तीर्थस्थल की ओर दो योजन—आठ कोस—पैदल चलना आदि भी कृच्छ व्रत के स्थानापन्न हैं, अर्थात् कृच्छ्र व्रत से होने वाला प्रायश्चित्त गायत्री जाप, प्राणायाम, तीर्थ-स्नान तथा तीर्थ-भ्रमण से भी हो सकता है। इनके द्वारा भी शुद्ध अवस्था में प्राण त्यागने वाला व्यक्ति पाप-मुक्त हो जाता है।

द्वियोजने तीर्थयात्रा कृच्छ्रमेकं प्रकल्पितम्।
गृहस्थः कामतः कुर्याद्रेतसः स्खलनं भुवि॥ 61॥
सहस्रं तु जपेद्देव्या प्राणायामैस्त्रिभिः सह।

गृहस्थ द्वारा स्वेच्छा से धरती पर वीर्यपात-जैसे पाप करने का प्रायश्चित्त गायत्री मन्त्र का एक सहस्र संख्या में जाप तथा तीन प्राणायाम करना है।

चतुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवद्द्विप्रघातके। 62॥

समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्।
सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाचरेत्॥ 63॥

चारों वेदों के ज्ञाता विद्वान् को व ब्रह्मघाती को प्रायश्चित्त के रूप में सेतुबन्ध (रामेश्वरम्) के दर्शन का निर्देश देना चाहिए। घर से रामेश्वरम् के लिए प्रस्थान करने पर व्यक्ति को मार्ग में चारों वर्णों के घरों से भिक्षा मांगते हुए निर्वाह करना चाहिए। इसी से पाप का परिहार होता है।

वर्जयित्वा विकर्मस्थान् छत्रोपानहिवर्जितः।
अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः॥ 64॥

ब्रह्मघाती को प्रायश्चित्त के रूप में सेतुबन्ध की यात्रा करते हुए मार्ग में विरुद्ध कर्म करने वालों के घर से भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। उसे अपने पास जूता और छाता—सुख-सुविधा का सामान—नहीं रखना चाहिए, अर्थात् उसे नंगे पांव और नंगे सिर, धूप, बरसात और सर्दी को झेलते हुए यात्रा करनी चाहिए। भिक्षा मांगते समय उसे इन शब्दों—मैं ब्रह्महत्या-जैसा दुष्कर्म करने वाला महापातकी भिक्षा के लिए द्वार पर उपस्थित हूं—में अपने पाप का विज्ञापन करना चाहिए।

गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः।
गोकुलेषु वसेच्चैव ग्रामेषु नगरेषु वा॥ 65॥

प्रायश्चित्त के रूप में पापनिवृत्ति तथा आत्मशुद्धि के लिए सेतुबन्ध को जाते ब्रह्मघाती को प्रत्येक द्वार से भिक्षा मांगते समय स्पष्ट उद्घोष करना चाहिए—मैं ब्रह्मघाती, महापातकी भिक्षा-याचना के लिए आपके द्वार पर स्थित हूं। मार्ग में रात्रि विश्राम के लिए आने वाले किसी भी नगर तथा ग्राम में उसे गौशाला में जाकर गायों के मध्य ही रहना चाहिए।

तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्त्रवणेषु वा।
एतेषु ख्यापयन्नेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम्॥ 66॥

ब्रह्मघाती को घर से सेतुबन्ध के मार्ग के मध्य में पड़ने वाले सभी जलस्त्रोतों—नदी, कूप, वापी तथा सरोवर—में स्नान करना चाहिए तथा सभी आश्रमों और तपोवनों में उच्च स्वर में अपने पाप का इन शब्दों में प्रचार करना चाहिए—मैं नीच ब्रह्महत्यारा, दुष्ट आपके आश्रम में प्रविष्ट हो रहा हूं।

दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्।
रामचन्द्रसमादिष्टं नलसञ्चयसञ्चितम्॥ 67॥

भगवान् राम के आदेश से नल और नील नामक अभियन्ताओं ने दस योजन चौड़े और सौ योजन लम्बे सेतु का निर्माण किया, जहां श्रीराम ने शिवलिंग की स्थापना और पूजा की।

सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति।
सेतुं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्ववगाहेत् सागरम्॥ 68॥

समुद्र पर बने इस सेतु के दर्शन से व्यक्ति ब्रह्महत्या-जैसे जघन्य एवं निकृष्टतम पाप से मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है। इस सेतु के दर्शन से शुद्ध हुए ब्रह्महत्यारे को समुद्र में स्नान करना चाहिए।

यजेत वाश्वमेधेन राजा तु पृथिवीपतिः।
पुनः प्रत्यागतो वेश्मवासार्थमुपसर्पति॥ 69॥

पृथिवीपति के स्वर पर समर्थ-समृद्ध ब्रह्महत्यारा अश्वमेध यज्ञ करने पर ही ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त एवं शुद्ध होता है, अन्यथा सेतुदर्शन से ही अभीष्ट-लाभ हो जाता है। सेतुदर्शन और समुद्र-स्नान से पाप-मुक्त होने पर व्यक्ति को घर में आकर निवास करना चाहिए।

सपुत्रः सह भृत्यैश्च कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम्।
गाश्चैवैकशतं दद्याच्चातुर्विद्येषु दक्षिणाम्॥ 70॥

घर पर लौटकर ब्रह्महत्या से कलंकित व्यक्ति को पत्नी,पुत्र और भृत्यों के सहित ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए और चारों वेदों के विद्वान्, आचार-परायण एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों को एक सौ गाएं दक्षिणा में देनी चाहिए।

ब्राह्मणानां प्रसादेन ब्रह्महा तु विमुच्यते।
विन्ध्यादुत्तरतो यस्य निवासः परिकीर्तितः॥। 71॥

विन्ध्याचल के उत्तरवर्ती भाग के निवासी ब्राह्मणों की प्रसन्नता ब्रह्मघाती को शीघ्र पाप मुक्त करने वाली सिद्ध होती है।

टिप्पणी—विन्ध्याचल के उत्तरी भू-भाग के प्रति महर्षि का विशेष पक्षपात कदाचित् उनका उस क्षेत्र से सम्बन्धित होना है।

पराशरमतं तस्य सेतुबन्धस्य दर्शनम्।
सवनस्थां स्त्रियं हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्॥ 72॥

महर्षि पराशर के मतानुसार—विन्ध्य के उत्तरी क्षेत्र के ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के स्थान पर सेतुबन्ध का दर्शन सार्थक—ब्रह्महत्या के पाप से मुक्तिदायक—सिद्ध होता है।

सवन-यज्ञ में चरु के रूप में प्रयोग में लाये जाने वाले सोम को तैयार करती स्त्री की हत्या का पाप भी ब्रह्महत्या के पाप के समकक्ष है।

मद्यपश्च द्विजः कुर्यान्नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
चान्द्रायणे ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्॥ 73॥
अनडुत्सहितां गां च दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम्।

मदिरासेवी ब्राह्मण को भी अपने पाप की निवृत्ति के लिए ब्रह्महत्या के पाप से मुक्ति के लिए निर्दिष्ट प्रायश्चित्त—प्रथम चान्द्रायण व्रत करना, पुनः समुद्रगामिनी नदी में स्नान करके चान्द्रायण व्रत करना, ब्राह्मणों को भोजन कराना तथा ब्राह्मण को एक बैल और एक गाय दक्षिणा में देना—करना चाहिए।

सुरापानं सकृत्कृत्वा ह्यग्निवर्णां सुरां पिबेत्॥ 74॥
स पावयेदथात्मानमिह लोक परत्र च।

एक बार सुरा पीकर पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त के रूप में अग्नि में उबालकर खौलती हुई सुरा को पीकर प्राण त्यागने वाला ब्राह्मण इस लोक में ही नहीं, अपितु परलोक में भी अपनी आत्मा को शुद्ध करने वाला तथा उत्तम गति पाने का अधिकारी बन जाता है।

अपहृत्य सुवर्णं तु ब्राह्मणस्य ततः स्वयम्॥ 75॥
गच्छेन्मुसलमादाय राजाभ्याशं वधाय तु।
हतः शुद्धिमवाप्नोति राज्ञाऽसौ मुक्त एव च॥ 76॥
कामतस्तु कृतं यत्स्यान्नान्यथा वधमर्हति।

स्वर्ण की चोरी करने वाले ब्राह्मण को अपने हाथ में मूसल लेकर अपने आप ही राजा के पास जाना, राजा के समक्ष अपने अपराध को स्वीकार करना तथा राजा से मूसल द्वारा अपने को दण्ड देने—मार डालने—की प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा करने वाला ब्राह्मण दोनों ही स्थितियों—राजा द्वारा दण्डित किये जाने पर अथवा क्षमा कर दिये जाने पर—में शुद्ध और पापमुक्त हो जाता है।

स्वर्ण की चोरी करने के दण्ड को पाने के लिए उपस्थित ब्राह्मण को दण्ड

देने के औचित्य के निर्धारण के लिए राजा को सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि उसने यह पाप क्यों किया है? यदि इस पाप का कारण केवल लोभ है, तो उसे दण्ड अवश्य देना चाहिए, परन्तु यदि इसका कारण किसी आवश्यकता-विशेष की पूर्ति है, तो राजा को अपराधी ब्राह्मण को क्षमा करने का अधिकार है। दोनों ही स्थितियों —जान-बूझकर लोभवश अथवा अनचाहे किसी आवश्यकता की पूर्ति की विवशतावश—में चोरी करना तो चोरी ही है और यह एक दण्डनीय अपराध है, परन्तु ब्राह्मण को स्वयं राजा के समक्ष उपस्थित होकर अपराध को स्वीकार करना और दण्ड के लिए अनुरोध करना, उसके विवेक के जागृत होने और आत्मग्लानि अनुभव करने का सूचक है। इस स्थिति में क्षमादान करने में कोई अनौचित्य नहीं। आख़िर दण्ड का उद्देश्य सुधारना ही तो है।

आसनाच्छयनाद्यानात्सम्भाषात्सहभोजनात् ॥ 77 ॥
सङ्क्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि।

जिस प्रकार जल में पड़ी तेल की बूंद चारों ओर फैल जाती है, उसी प्रकार अधम, पतित एवं दुष्ट पुरुषों के साथ बैठने, सोने, एक-साथ सवारी करने अथवा एक ही रथ-गाड़ी पर बैठकर यात्रा करने, वार्तालाप करने तथा साथ-साथ खाने-पीने से दुर्विचार, दुष्प्रवृत्तियां एवं उनके पाप साधु-पुरुषों में संक्रमित हो जाते हैं, अर्थात् बुरे व्यक्तियों के संग का सज्जनों पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। अतः उनसे सम्पर्क न रखना ही बुद्धिमत्ता है।

चान्द्रायणं यावकं च तुलापुरुष एव च ॥ 78 ॥
गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम्।

दुष्ट पुरुषों का सम्पर्क हो जाने पर उनके प्रभाव को निर्मूल करने के लिए तथा अपने आचार, व्यवहार एवं स्वभाव को उज्ज्वल-निर्मल बनाने के लिए चान्द्रायण व्रत रखना चाहिए, यावक का भोजन करना चाहिए, तुला पुरुष का दान और गायों के पीछे चलना चाहिए। इससे व्यक्ति दुष्टों के संग से सञ्चरित विकारों से मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—अपने शरीर के भार के समकक्ष अन्न, घृत आदि का दान—तुला के एक पलड़े में स्वयं बैठ जाना चाहिए और दूसरे पलड़े में दान की जाने वाली सामग्री रखनी चाहिए। दोनों पलड़ों के बराबर आ जाने पर स्वयं पलड़े से उतरकर दूसरे पलड़े के सामान का दान—तुलादान अथवा तुलापुरुष कहलाता है।

एतत्पाराशरं शास्त्रं श्लोकानां शतपञ्चकम्॥ 79॥

पांच सौ बानवे श्लोकों में ग्रथित यह ग्रन्थ महर्षि पराशर द्वारा धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों का अद्भुत संग्रह है।

द्विनवत्या समायुक्तो धर्मशास्त्रस्य सङ्ग्रहः।
यथाऽध्ययनकर्माणि धर्मशास्त्रमिदं तथा॥ 80॥

इस धर्मशास्त्र के अध्ययन से वेदों के अध्ययन से प्राप्त होने वाले पुण्य का लाभ होता है। अत: लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक नि:श्रेयस के इच्छुक व्यक्ति को विशेष प्रयत्न करके मनोयोगपूर्वक इस ग्रन्थ-रत्न का अनुशीलन करना चाहिए।

॥ इति सकल प्रायश्चित्त निर्णय नामक द्वादश अध्याय॥

॥ इति पाराशरस्मृति सम्पूर्ण॥

For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Spiritual Life Series		
········ असम्भव क्रान्ति	ओशो	60.00
········ सत्य की खोज	ओशो	60.00
········ अन्तर्यात्रा	ओशो	60.00
········ चेतना का सूर्य	ओशो	60.00
········ आनन्द गंगा	ओशो	60.00
········ क्या ईश्वर मर गया है?	ओशो	60.00
········ क्रान्ति बीज	ओशो	60.00
········ शून्य की नाव	ओशो	60.00
········ जीवन ही है प्रभु	ओशो	60.00
········ महावीर या महाविनाश	ओशो	60.00
········ The Divine Song Shreemad Bhagwat Geeta	R.S. Gupta	100.00
········ योग दर्शन	सत्यार्थ सूत्र	50.00
········ श्री शिव पुराण की महिमा	पं० नवीन सेमवाल	50.00
········ चाणक्य नीति	आचार्य चाणक्य	50.00
········ श्रीमद्भागवत पुराण	प. नवीन सेमवाल	50.00
········ अनमोल सूक्तियां	पराग पुष्प	50.00
········ अमृतवाणी	पराग पुष्प	50.00
········ प्रेरक प्रसंग	पराग पुष्प	50.00
········ ज्ञान का सागर	पराग पुष्प	50.00
········ Non-Violence and its Philosophy*	Ravindra Kumar	50.00
Dynamic Personality Development Series		
········ प्रभावशाली व्यक्तित्व	पुष्पेन्द्र कुमार	100.00
········ बदलिये किस्मत *	पुष्पेन्द्र कुमार	60.00
········ How to Impress Others*	Pushpendra Kumar	125.00

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Religious Series		
.... मनु स्मृति*	महर्षि मनु	180.00
.... छान्दोग्य उपनिषद्*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... वेदान्त दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... सांख्य दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... न्याय दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... नारद स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	90.00
.... याज्ञवल्क्य स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	100.00
.... पाराशर स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	50.00
.... योग वासिष्ठ*	रामचन्द्र वर्मा	100.00
.... बृहत कर्म काण्ड रत्नाकर*	राजबली पाण्डेय	100.00
Dynamic Personality Series		
.... सरदार पटेल : व्यक्तित्व के अनछुए पहलू*	डा. रवीन्द्र कुमार	50.00
Dynamic Sports Series		
.... क्रिकेट वर्ल्ड कप*	यशपाल सिंह	50.00
.... खेलों के नियम*	गंगेश गुंजन	50.00
Dynamic Cookery Series		
.... स्वादिष्ट सूप-सलाद	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट व्यंजन	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट दालें एवं सब्जियां	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वीट डिश एवं पेय पदार्थ	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट स्नैक्स*	अंजू गर्ग	50.00

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Life Style Series		
.... कामकाजी महिलाएं	डा० रेखा अरोड़ा	50.00
.... The way of living	J.N. Kapur	50.00
.... हमारे नैतिक मूल्य	जे०एन० कपूर	50.00
.... Anxiety-A Journey from Upanishads	Dr. Amit Verma	50.00
.... Psychological Solutions for Everyday Problems	Dr. Prakash Veereshwar	70.00
.... घर परिवार सुखी कैसे बनाएँ*	डा. महेन्द्र मित्तल	70.00
.... सुखमय दाम्पत्य जीवन*	डा. मोनिका जैन	60.00
.... इंटीरियर डेकोरेशन*	एस. के. रस्तौगी	150.00
.... Successful living*	B. N. Pathak	100.00
.... शुभ विवाह*	डा. मोनिका जैन	80.00
Dynamic Health Care Series		
.... बेबी केयर	प्रतिभा आर्य	50.00
.... लेडीज ब्यूटी केयर	प्रतिभा आर्य	50.00
.... हेयर केयर	डॉ० मोनिका जैन	50.00
.... लेडीज हैल्थ केयर	डॉ० मोनिका जैन	70.00
.... आज की आम बीमारियां	डॉ० मोनिका जैन	80.00
.... चाइल्ड केयर*	ज्योति आर्य	50.00
.... स्वस्थ रहिये*	डा. मोनिका जैन	50.00
.... स्किन केयर*	प्रतिभा आर्य	60.00
Dynamic Management Series		
.... Great Presentation*	Sanjeev Shukla	100.00
.... Aim, Act and Achieve*	Sunil Ranjan	100.00
Dynamic Self Improvement Series		
.... डायनेमिक मैम्गेरी पॉवर	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Career Series		
.... कैरियर के नये आयाम	पुष्पेन्द्र कुमार	70.00
.... कैरियर के हजार सवाल	पुष्पेन्द्र कुमार	70.00
.... विदेशों में कैरियर के अवसर	पुष्पेन्द्र कुमार	60.00
.... युवतियों के लिए स्मार्ट कैरियर्स*	डा. मोनिका जैन	60.00
.... Career Excellence*	Col Aditya Parida	100.00
.... Career - A Turning Point*	Pushpendra Kumar	70.00
.... Interview (A Meeting of Two Minds)*	A. K. Gandhi	100.00
Dynamic Pleasure Series		
.... सर्वश्रेष्ठ नज़्में	पराग पुष्प	50.00
.... सर्वश्रेष्ठ गज़लें	पराग पुष्प	50.00
.... सर्वश्रेष्ठ शेर	पराग पुष्प	50.00
.... शेर-ओ-शायरी	पराग पुष्प	50.00
.... हास्यमेव जयते	पराग पुष्प	50.00
.... पॉपुलर कलाम*	पॉपुलर मेरठी	70.00
.... पहली बारिश*	डॉ. नवाज़ देवबन्दी	100.00
.... जीवन सार*	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... The Essence of Life*	Pushpendra Kumar	50.00
Dynamic Literature Series		
.... कौटिल्य अर्थ शास्त्र*	आचार्य कौटिल्य	225.00
.... घर-बाहर*	रवीन्द्र नाथ टैगोर	60.00
.... नौका डूबी*	रवीन्द्र नाथ टैगोर	60.00
.... आँख की किरकिरी*	रवीन्द्र नाथ टैगार	60.00

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Tourism Series		
.... भारत की सैर	पुष्पेन्द्र कुमार	100.00
Dynamic Astrology Series		
.... मुखाकृति विज्ञान	पं० नवीन सेमवाल	50.00
.... ज्योतिष ज्ञान	डॉ० नरेश त्यागी	70.00
.... अंक ज्योतिष	आचार्य वादरायण	70.00
.... हस्त रेखा शास्त्र	पं. नवीन सेमवाल	150.00
.... हस्त रेखाओं के गोपनीय रहस्य	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... हस्त रेखा शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन*	विलियम जी. बेनहम्	180.00
.... हस्त रेखा विज्ञान: एक अध्ययन*	कामटे सी.डी. सेण्ट जर्मेन	150.00
.... Numerology*	Acharya Vaadrayan	70.00
.... Geo-Energy*	Dr. V. K. Saxena	200.00
.... Feng-Shui*	Dr. V. K. Saxena	200.00
Dynamic Informative Series		
.... बच्चों के सर्वश्रेष्ठ नाम	डॉ० मोनिका जैन	50.00
.... हमारे प्रिय जीव-जन्तु	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... The Second World War	A.K. Gandhi	50.00
.... Some Great Mathematicians of the 19th Century	J.N. Kapur	150.00
.... भारत के क्रांतिवीर	डॉ० ताराचन्द पाल बेकल	50.00
.... रंग और आप	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... आश्चर्यजनक जानकारियां	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... मेरा संघर्ष*	हिटलर की आत्म कथा	100.00
.... भारतीय संस्कृति के पाँच हजार वर्ष*	डा. रवीन्द्र कुमार	50.00
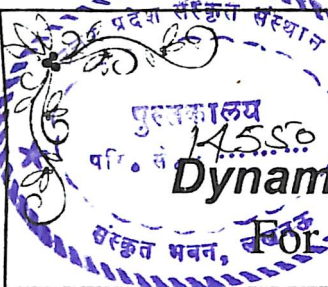
Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Children Choice Series		
.... सर्वश्रेष्ठ बालगीत	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... बच्चों की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... Why Devils have Horns*	Folk Tales-1	30.00
.... The Mustached Man*	Folk Tales-2	30.00
.... The Magic Hubble-Bubble*	Folk Tales-3	30.00
.... The Talking Tree*	Folk Tales-4	30.00
.... Paoli Tales*	Folk Tales-5	30.00
.... Vikram and Baital*	Indian Classics-1	30.00
.... Tenali Rama*	Indian Classics-2	30.00
.... Akbar Birbal*	Indian Classics-3	30.00
.... Ramayana*	Indian Classics-4	30.00
.... Panchatantra*	Indian Classics-5	30.00
.... Little Red Riding Hood*	Fairy Tales-1	30.00
.... Cinderella*	Fairy Tales-2	30.00
.... The Emperor's New Clothes*	Fairy Tales-3	30.00
.... Snow White and the Seven Dwarfs*	Fairy Tales-4	30.00
.... Gulliver's Travels*	Fairy Tales-5	30.00
.... Horns on the King's Head *	Fancy Tales-1	30.00
.... Tree on the Shoulder*	Fancy Tales-2	30.00
.... Snake in the pit*	Fancy Tales-3	30.00
.... One-Eyed Groom*	Fancy Tales-4	30.00
.... The Lion Goes Young*	Fancy Tales-5	30.00
.... Sindbad the Sailor (First Voyage)*	Arabian Nights -1	30.00
.... Sindbad the Sailor (Second Voyage)*	Arabian Nights-2	30.00
.... Sindbad the Sailor (Third Voyage)*	Arabian Nights-3	30.00
.... Sindbad the Sailor (Fourth Voyage)*	Arabian Nights-4	30.00
.... Sindbad the Sailor (Fifth Voyage)*	Arabian Nights-5	30.00

* हमारे नवीनतम प्रकाशन

पाराशरस्मृति

स्मृति– ग्रन्थों को युग– विशेष में समाज में प्रचलित प्रथाओं, रीतियों, नीतियों, रूढ़ियों, आचार– विचारों तथा धार्मिक मान्यताओं का संकलन कहा जा सकता है।

बारह अध्यायों और पांच सौ बानवे श्लोकों में निबद्ध पाराशरस्मृति में प्रमुखतः दो विषयों पर विचार किया गया है– आचार तथा प्रायश्चित्त। सत्युग, त्रेता और द्वापर के धर्मों की चर्चा अन्यान्य स्मृतियों में मिलेगी, परन्तु इस स्मृति में तो कलियुग के धर्म– आचार तथा रीति– नीति की लिए पाराशरस्मृति की महति उपयोगिता है।

धर्म की स्थापना और ब्राह्मणों को पाप से बचाने के लिए ही पाराशरस्मृति की रचना की गयी है। इस शास्त्र की जानकारी जहां पुण्यकारक है, वहां इसमें वर्णित नियमों का पालन करने से स्वर्ग तथा अपवर्ग की प्राप्ति भी होती है।

यह सचमुच एक अनूठा और प्रशंसनीय प्रयास है। ग्रन्थ की प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए मूलपाठ भी दिया गया है। आशा है, धर्मप्रेमी पाठक इसे पसन्द करेंगे।

ISBN 81-7933-120-2

डायनेमिक पब्लिकेशन्स (इण्डिया) लि०